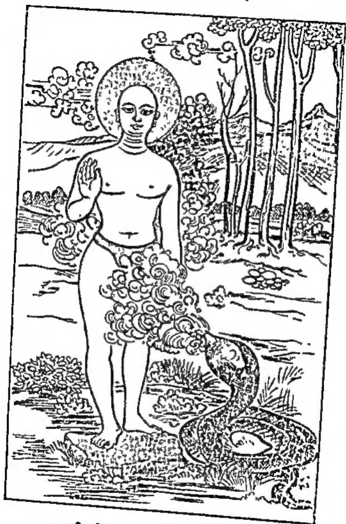
चण्डकौशिक प्रतिबोध



श्री महेन्द्रकुमार सिंघी के सौजन्य से

श्री अभय जैन ग्रन्थमाला पुष्प २३

जीवदया प्रकरण—काव्यत्रयी

अनुवादक
भँवरलाल नाहटा

प्रकाशक
नाहटा ब्रादर्स
नं० ४, जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता-७

माघ शुक्ला ६
वि० सं० २०२१

मूल्य ७५ पैसा

प्रकाशक—
नाहटा ब्रादर्स
४ जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता-७

मुद्रक :—
सुराना प्रिन्टिङ्ग वर्क्स
४०२, अपर चितपुर रोड
कलकत्ता-७

समप्पणम्

वट्टइ दक्खिण देसे भारहवासे
हंपी णयर पसिद्धो किक्किंधे इति

सिरि रयणकूड सिहरे अइरम्मे
णइ तुंगभद्द कूले रजन्ते

सहजाणंद मुणिंदो तिअसवई
लाइग्ग सम्मदिट्ठी पयइ कओ

कलिकायाए णयरे संठिओ
गुरुचरण - कमल - रत्तो अइभत्ती

जीयदया ए जुत्तो नाना वित्तक
वालावबोध पयरण सुविहिय गुंफिओ

कव्वत्तयाणुवादो कोउयवस
सुगुरु - चरण - कमले समप्पियं

प्रवेशिका

गत वर्ष अजीमगंज के ज्ञानभण्डार से श्री मोतीचन्दजी बोथरा द्वारा "श्री जिनभद्रसूरि स्वाध्याय पुस्तिका" की उपलब्धि हुई, जिसके अन्वेषण में हम गत बीस वर्षों से थे। इस प्रति में कतिपय अप्रकाशित ऐतिहासिक कृतियाँ हैं। यह प्रति सं० १४९१ में लिखी हुई है, इसमें 'जीवदया प्रकरण' और 'नाना वृत्तक प्रकरण' की उद्बोधक रचनायें देखी तो उन्हें नकल करने की स्वाभाविक इच्छा हो गई। गत चौमासी चौदस के दिन मुमुक्षुवर्य श्री हरखचंदजी बोथरा ने इसे देखकर अनुवाद कर डालने की प्रबल प्रेरणा की तदनुसार दोनों ग्रन्थों का अनुवाद प्रस्तुत कर दिया। इसके बाद उन्होंने पद्यानुवाद करनेका आदेश दिया तो वह भी जैसा हो सका, पाठकों के समक्ष है। इसे पं० श्री सूरजचंदजी डांगी ने संशोधित कर देने की कृपा की है। प्रस्तुत दोनों ग्रन्थों की भाषा प्राकृत है और धर्म के मर्म से ओत प्रोत है। तीसरा ग्रन्थ बालावबोध प्रकरण भी औपदेशिक व सदाचार विषयक होने से साथ ही दिया जा रहा है।

चौबीस वर्ष पूर्व जब श्रीजिनहरिसागरसूरिजी महाराज जैसलमेर थे, हमें वहाँ के ज्ञानभण्डार की (पोथी नं० ७६ क्रमांक १३२६ पत्र, २८१ में) सं० १३८५ से सं० १३८६ के बीच लिखी हुई प्रति में अपभ्रंश भाषा की तीसरी "बालावबोध प्रकरण" नामक गाथा ११६ की रचना मिली जिसे हमने नकल करली। यह रचना श्री जिनदत्तसूरिजी के किसी शिष्य की मालूम देती है जिसका रचनाकाल सं० १२५० के आसपास अनुमानित है। प्रस्तुत कृति में मद्य, मद्यव्यसन त्याग,

भक्ष्याभक्ष्य आदि धर्म और सदाचार विषयक व्यापक उपदेश है। इस काल की हिन्दी रचनाओं का जैनेतर साहित्य में तो अभाव ही है। इसकी भाषा अपभ्रंश है जिससे हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं का विकास हुआ है। अतः इसका महत्त्व भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यधिक है क्योंकि यह इन सभी भाषाओं के बीच की कड़ी है और इसके शब्द रूपों से किस प्रकार भाषा-विकास हुआ इसका विवेचन बड़ा मनोरंजक और उपयोगी होने पर भी श्री जैनश्वेताम्बर पंचायती मंदिर के सार्द्धशताब्दी महोत्सव के स्मारक ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में अत्यन्त व्यस्तता के कारण दिया जाना सम्भव नहीं हो सका है। पूज्य काकाजी श्री अगरचन्दजी के आदेशानुसार तीन-चार वर्ष पूर्व मैंने बालावबोधप्रकरण का अनुवाद मात्र किया था और अभी जब उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ छप चुके तो साथ ही में प्रकाशित करने के लिये काकाजी ने भेजा जिसे साथ ही त्वरया प्रकाशित किया जा रहा है। इसकी एक मात्र प्रति मिली थी, अतः पाठ शुद्धि और पाठान्तरादि का सम्पादन वैज्ञानिक ढंग से नहीं हो सका।

जीवदया प्रकरण और नाना-वृत्तक-प्रकरण भी एक ही प्रति के आधार से प्रकाशित हो रहे हैं। यद्यपि जीवदया प्रकरण की ताड़पत्रीय प्रतियाँ पाटणके भण्डारों में पर्याप्त उपलब्ध है पर वहाँ से प्रतियाँ प्राप्त कर सम्पादन करना समय सापेक्ष है। अतः द्वितीयावृत्ति का अवसर मिला तो इन्हें सुसम्पादित करने का प्रयत्न किया जायगा। इसकी प्राचीनतम प्रति सं० ११८८ की लिखी हुई है इससे इस ग्रन्थकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। पाटण भण्डार में निम्नोक्त प्रतियाँ है :—

संघवीपाड़ा भण्डारमें ७ प्रतियाँ हैं जिनमें चार पूर्ण हैं, एक में गाथा १११, एकमें ११५ (सं० १३३० लिखित) दो में ११६ हैं, सेठियाजी के भंडार में ११२ गाथाएं नं. ३ भण्डार में १११ गाथाओं की २ प्रतियाँ हैं जिनमें एक सं० १३८१ लिखित है। वाड़ी पार्श्वनाथ भण्डार की प्रति सं० १३३२ लिखित है और अनुपची भण्डार की प्रति में ११२ गाथाएं हैं। इस न्यूनाधिकता का कारण यही है कि कोई गाथा सुभाषित रूप में अन्य प्रकरण से उद्धृत करली गई होगी।

मुनिराज श्री संतबालजी महाराज ने इसका आमुख लिख देने की कृपा की है। पूज्या साध्वीजी महाराज श्री चन्द्रश्रीजी के उपदेश से श्री केशरीचंदजी बच्छावत की स्मृति में उनके परिवार द्वारा पाँच सौ प्रतियाँ प्रकाशित कर जीव-दया प्रचार में सराहनीय सहयोग दिया है। जीव-दया प्रकरण पढ़कर पाठक जीव-दया हृदय में धारण करेंगे तो पुस्तक की सार्थकता सिद्ध होगी।

कलकत्ता
मेरु-त्रयोदशी
वीर संवत् २४९१

विनीत
भँवरलाल नाहटा

१

अन्तरंग-पूजा-रहस्य पद

नित प्रभु-पूजन रचावूँ......मैं घट में (२)

सद्गुरु-शरण-स्मरण तन्मय हो, स्व पर सत्ता भिन्न भावूँ...मैं ॥१॥
प्राण-वाणी-रस मंत्र आराधत, स्वरूप लक्ष जमावूँ...मैं० ॥२॥
स्व-सत्ता क्षायक - दर्पण में, प्रभु - मुद्रा पधरावूँ मैं० ॥३॥
षट् चक्र-क्रम भेद प्रभु को, मेरु दण्ड शिर लावूँ मैं० ॥४॥
कमल सहस्र दल-कर्णिका-स्थित, पाण्डु शिला पर ठावूँ...मैं० ॥५॥
ज्ञान सुधाजल सिंचत-सिंचत, प्रभु सर्वांग नहलावूँ मैं० ॥६॥
ज्ञान-दीपक निज ध्यान-धूप से, आठों कर्म जलावूँ मैं० ॥७॥
हर्षित कमल-सुमन वृत्ति चुन चुन, प्रभु पद पगर भरावूँ मैं० ॥८॥
दिव्य गन्ध प्रभु अक्षत अंगे, लेवत रोम नचावूँ मैं० ॥९॥
सहजानन्द-रस तृप्त नैवेद्य, द्वन्द्व दुखादि नसावूँ...मैं० ॥१०॥
निराकार साकार अभेदे, आत्मसिद्धि फल पावूँ मैं० ॥११॥

आमुख

ये तीनों ग्रन्थ लगभग ६००-७०० वर्ष पहले के लिखे हुए प्राप्त हुए हैं और शोध प्रेमी श्री भँवरलालजी नाहटा इनका संकलन व अनुवाद करके प्रकाशित कर रहे हैं, इससे अत्यन्त प्रसन्नता होती है; क्योंकि कलकत्ता के ऐसे ऐतिहासिक श्वेताम्बर जैन पंचायती मन्दिर का सार्द्ध शताब्दी महोत्सव मनाने के अवसर पर जैन धर्म का मर्म समझाने वाली जैन साधु विरचित सत्कृतियाँ प्रकाशित हों यह वस्तुतः समुचित ही कहा जा सकता है।

इन तीनों लघु ग्रन्थों के नाम क्रमशः "जीवदया प्रकरण" 'नाना वृत्तक प्रकरण' और 'बालावबोध प्रकरण' हैं। पहले ग्रन्थ में ११५ गाथाएँ हैं, दूसरे में ८१ गाथाएँ हैं और तीसरे में ११६ गाथाएँ हैं। तीनों ग्रन्थों में मुख्य प्रतिपाद्य विषय जीवदया अथवा अहिंसा और व्यापक धर्म तत्त्व हैं। दया वस्तुतः सभी धर्मों के मूल में अनिवार्य गुण है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजी को कहना पड़ा—"दया धर्म का मूल है।" और लगभग सभी महापुरुषों ने निर्विवाद रूप से प्रतिपादन किया है—'दया धर्म नदीतीरे सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः'।

एक गया तो सब कुछ गया

इसीलिये धर्म में से अहिंसा के निकल जाने पर सब कुछ चला गया समझना चाहिये। यह बात तो अब सभी स्वीकार करने लगे हैं कि इस जगत् में धर्म के सिवाय कोई तारने वाला नहीं है। धर्म के सिवाय और कोई मार्ग विश्व की छोटी-बड़ी समस्याओं के हल करने में समर्थ नहीं है। भारत धर्म प्रधान देश है और भारत की समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था धर्म की बुनियाद पर आधारित रही है, इसीलिए दुनिया भारत की ओर आशा लगाई हुई है। इस दृष्टि से किसी भी युग में धर्म के तत्त्व और रहस्य को समझने

की जरूरत थी, उसकी अपेक्षा वर्तमान वैज्ञानिक युग में सबसे अधिक जरूरत है। यह बात प्रकारान्तर से इन लघुकाय ग्रन्थों में कूट-कूट कर भरी है। क्योंकि बीच के युग में धर्म के नाम पर अनेक अनर्थ दुनिया में हुए हैं और बाद में जीवदया के नाम से या तो सत्-त्याग विहीन पंगु दया की गई है, या मानव-दया को भुला कर या उसकी ओर उपेक्षा करके सिर्फ प्राणिदया कार्य ही किये गए हैं। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थों में जीवदया को मुख्यता देकर उसका सांगोपांग विवेक भी बता दिया है। जैन धर्म यह मानता है कि आप सिर्फ मानव-दया ही करेंगे, और मानवेतर प्राणी पर क्रूरता दिखाएँगे अथवा उस क्रूरता को निष्क्रिय या कायर बन कर सह लोगे, जैसे कि कई बार धर्म के नाम से होने वाला पशुवध सह लिया जाता है तो वह मानवदया भी अनिश्चित एवं अकेले एक के अंक के जैसी बन जायगी। अब मानवदया के एक अंक के साथ प्राणिदया का सुन्दर दूसरा एक अंक मिलायेंगे तो निश्चित ही उसकी कीमत ग्यारह (११) जितनी हो जायगी। प्रसंगोपात मुझे कहना चाहिए वर्तमान जैनों में प्रायः प्राणिदया का एक अंक साबूत रहा है, लेकिन मानवदया का एक अंक इसके साथ न होने से जीवन और जगत् में जो रौनक आनी चाहिये, वह नहीं आ पाती। इसके विपरीत अन्य धर्मों में प्राणिदया के एक-अंक रहित मानवदया का एक-अंक होने से वह भी लंगड़ी बन गई है। जैनों को प्राणिदया के साथ-साथ मानव-दया को खासतौर से अपनाना होगा। तभी जैन धर्म का भव्य भूतकाल फिर से ताजा होगा। मानवदया के पूर्ण और सांगोपांग अभ्यास के लिए जैनों को अहिंसा के साथ सत्य के अंक को अनिवार्य रूप से घोटना पड़ेगा। आज जैनों का सत्य का अंक बिलकुल कच्चा बन जाने से अहिंसा भी थोथी बन गई है। वह प्रभावशाली नहीं रही और व्यवहार में अन्याय, अनीति, बेईमानी आदि अनिष्ट (जिसे सामाजिक हिंसा कह सकते हैं) बढ़ गए हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अहिंसा और सत्य इन दोनों के पक्के होने पर ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अन्य अनेक छोटे बड़े व्रत पक्के हो जायेंगे। इसी बात के इन दोनों ग्रन्थों में यत्र तत्र संकेत मिलते हैं।

जैन धर्म की सार्वभौमता

जैनों को लक्ष्य करके इतना कहने का कारण यह है कि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' (धर्माचरण करने वालों के बिना धर्म टिकता नहीं) इस सूत्र के अनुसार जैन धर्म में विश्व में एकेन्द्रिय जैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं चक्षुअगोचर प्राणियों की दया से लेकर मानवरक्षा तक की बात सिद्धान्त युक्त (आत्मौपम्य) व्यवहार के साथ आचरण करके बताई है। उसकी साधना व्यवहार्य है। इसी प्रकार 'नमो लोए सव्वसाहूणं' कहकर जगत् के सभी साधुओं को नमस्कार करने की उदारता और गुणपूजात्मक दृष्टि जैनधर्म में ही मिलती है। साथ ही जैनधर्म की यह भी विशेषता है कि उसने व्यक्ति धर्म के साथ समाजधर्म की साधना पर इतना ही नहीं, बल्कि इसमें विशेष भार दिया है। फिर भी व्यक्तिधर्म और समाजधर्म की सारी समतुला सुरक्षित रहे, इतनी हद तक गहराई के साथ-साथ व्यापकता की सुरक्षा की है। इसलिए समुद्र में जैसे सभी नदियाँ समा जाती हैं, परन्तु समुद्र, सभी नदियाँ एकत्रित हों तो भी उनमें नहीं समा सकता वैसे जैन धर्म एक महासागर रूप धर्म है, उसमें सभी धर्मों का समावेश हो सकता है। इस दृष्टि से जैन धर्म के साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप धर्म संघ पर सबसे अधिक जिम्मेवारी आ जाती है कि वे अपने जीवन में धर्म के सक्रिय सामुदायिक आचरण द्वारा विश्व को जैनधर्म के स्वरूप का दर्शन करायें। सौभाग्य से, महात्मागांधीजी ने जैनधर्म की अहिंसा को व्यापक बनाने के लिए अहिंसा का सामूहिक प्रयोग करके राजमार्ग तैयार कर दिया है, अब

साधु-साध्वियों को केवल धर्म-स्थानों में ही अहिंसा को बन्द न करके मानव जीवन के हर क्षेत्र में उसका सामूहिक प्रयोग करने की तैयारी करनी चाहिए। इस प्रयोग में कदाचित शुरू-शुरू में उन्हें अधिक श्रावक-श्राविकाओं का सहयोग न मिले तो भी गाँधीजी की सर्वांगी दृष्टि को पचाने वाले कार्यकर्त्ता-कार्यकर्त्री (साधक-साधिका) अवश्य मिल सकेंगे। भालनलकांठा प्रदेश में हुआ धर्ममय (अहिंसक) समाज रचना का प्रयोग इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। अहिंसा, सप्त कुव्यसन त्याग और धर्म-तत्त्व से उसकी शुरूआत हुई थी। आज तो उस विचार एवं कार्य का प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक हो गया है। इस प्रकार की धर्मक्रान्ति के लिए साधु जीवन में प्राण, प्रतिष्ठा और परिग्रह रूप त्रिविध ममत्व छोड़ कर त्याग, मृत्यु-आलिंगन और प्रतिष्ठा परिहार का तप व्यक्तिगत सामूहिक रूप से जरूरी है।

मुझे आशा ही नहीं, विश्वास है कि एक साथ प्रकाशित होने वाले इन तीनों लघु काव्य ग्रन्थों में से जिज्ञासा और गहराई के साथ चिन्तन करने वाले पाठक भाई बहनों को उक्त वस्तुतत्त्व अवश्य उपलब्ध होगा। मैं पुनः इन तीनों लघु कृतियों को प्रकाशित करने के लिये श्री भँवरलालजी नाहटा को धन्यवाद देता हूँ।

कच्छी जैन भवन
कलकत्ता
ता० ३-९-६५

—सन्तबाल

जीवदया प्रकरण

[१]

संसय तिमिर पयंगं भवियायण कुमय पुन्निमा इंदं।
काम गइंद मइंदं जग-जीव हियं जिणं नमिउं ॥१॥

संशय रूपी अन्धकार के लिए सूर्य, भविक जन कुमुद को विकास करने के लिए चन्द्र, कामरूपी हाथी के वश करने के लिए मृगेन्द्र के सदृश जगत के जीवों के हितकारी जिनेश्वर को नमस्कार करता हूँ।

संशय तिमिर हर तरणि सम जिनका परम विहान है।
भविजन कुमुद सुविकाश कारक चन्द्रसम द्युतिमान है॥
करिवर्य मकरध्वज विदारण सिंह-सम उपमान है।
जग के हितंकर तीर्थपति को नमन मंगल खान है॥१॥

[२]

पंच महव्वय गुरु भार धारए पंच समिइ तिहि गुत्ते।
नमिऊण सयल समणे जीवदया पगरणं वुच्छं॥२॥

पंच महाव्रत का गुरुतर भार धारण करनेवाले, पंच समिति, तीन गुप्ति युक्त समस्त श्रमणों को नमस्कार करके जीवदया प्रकरण कहता हूँ।

पाँचों महाव्रत के अमित गुरु भार को धारण करें॥
मन-वचन-काया गुप्ति, पाँचों समिति संधारण करें।
सकल श्रमणों को नमन कर दुरित निष्कारण करें।
प्राणीदया प्रकरण वचन से वैर-मद वारण करें॥२॥

[३]

पालित्तय छंदणं सुत्तं अत्थं च नेय जाणामि।
नय वागरणं विविक्त देसी तह लक्खणं वुच्छं ॥३॥

छन्द, सूत्र और अर्थ को मैं न जानता हूँ और न उनके नियमों को पालता हूँ। न्याय, व्याकरण तथा देश्य लक्षणों को (न जानते हुए) मैं कह रहा हूँ।

नहिं ज्ञान मुझको छन्द भाषा आदि का कुछ लेश भी।
सिद्धान्त आगम सूत्र का नहिं ज्ञान अर्थ प्रवेश भी॥
व्याकरण लक्षण देश्य भाषा न्याय का अनुमान भी।
है तनिक भी मुझको नहीं तो भी सुनें धीमान भी॥३॥

[४]

एयारिसयस्स मह खमियव्वं पंडियहिं पुरिसेहिं।
ऊणाइ रित्तयं जं हविज्ज अन्नाण दोसेण ॥४॥

इस प्रकार मुझ से न्यूनता और नियम रहितता आदि अज्ञानजन्य दोष हो जावें, उनके लिए पण्डित पुरुष क्षमा करें।

ऐसा महान अयोग्य हूँ मैं सर्वथा हि प्रकार से।
न्यूनता अरु रहितता के दोष सूत्र विचार से॥
अज्ञानता वशवर्ति से हो जाय दूषण जो कभी।
पण्डित सुधीजन ही करें औदार्य्यपूर्ण क्षमा सभी॥४॥

[५]

मग्गइ सुक्खाइं जणो ताइय सुक्खाइं हुंति धम्मेण।
धम्मो जीवदयाए जीवदया होइ खंती ए॥५॥

लोग सुख चाहते हैं, सुख धर्म करने से होता है, धर्म जीवदया में है और जीव-दया क्षमा से होती है।

मानव सदा सुख कामना करते सदा संसार में।
पर सौख्य प्राप्ति न हो सके बिन धर्म के आचार में॥
सद् धर्म श्रेष्ठ कहा गया है मात्र प्राणी की दया।
क्षमापूर्वक जो करे जग जीव पर करुणा मया॥५॥

[६]

पर वंचणा निमित्तं जंपइ अलियाइं जणवओ नूणं।
जो जीव-दया जुत्तो अलिएण न सो परं दुहइ॥६॥

दूसरों को ठगने के लिए लोग जान-बूझ कर मिथ्या भाषण करते हैं, पर जो जीवदया युक्त हैं व झूठ (विश्वासघात) के द्वारा दूसरों को दुखी नहीं करते।

पर वंचना के हेतु जो जन कपट का आश्रय लिये।
जो बोलते मिथ्या वचन है घात मन निश्चय किये॥
कारुण्य प्रतिमा किन्तु जो प्राणीदया से युक्त हैं।
पर कष्टदातृ अलीक भाषा बोलते न अयुक्त हैं॥६॥

[७]

तण कट्ठं च हरंतो दुमइ हिययाइ निग्घिणो चोरो।
जो हरइ परस्स धणं सो तस्स विलुंपए जीवो॥७॥

तृण काष्ट को हरने वाला भी दुर्मति हृदय वाला अतिघृणास्पद चोर है। जो पराये धन को हरण करता है वह उसका प्राण ही नाश करता है।

तृण काष्ट आदिक भी पराया जो किसी ने हर लिया।
दुर्मत हृदय यह चोर निर्घृण वस्ततः पापी हिया॥
जो धन पराया हरण करता वह महापापी कहा।
अर्थ जिसका प्राण है उस प्राण का घातक रहा॥७॥

[८]

दव्वे हयंमि लोओ पीड़िज्जइ माणसेण दुक्खेण।
धण विरहिओ विलूरइ भुक्खा मरणं च पावेइ॥८॥

लोक में द्रव्याहत मनुष्य दुःख से पीड़ित होता है। धन रहित भूख से दुःखी होकर मरण तक पा सकता है।

धन द्रव्य का इस लोक में माहात्म्य ऐसा छा गया।
जिसको मिला यह अर्थ मानो प्राण को ही पा गया॥
धन हीन और विपन्न होकर भूख की पीड़ा सहे।
मृत्यु पाता है तथा मरणान्त दुःखों को वहे॥८॥

[६]

ए पण कारणेणं जो जीव-दयालुओ जणो होइ।
सो न हरइ पर दव्वं पर पीडं परिहरंतो ओ॥६॥

इन कारणों से जो मनुष्य जीवदया वाला होता है वह कभी पर द्रव्य हरण नहीं करता एवं कभी दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाता।

इस हेतु जो है सुज्ञ सज्जन जीव करुणाकर महा।
पाप-भीरु प्रशांत अरु शालीनता सद्गुण कहा॥
पर द्रव्य हारी पाप रत होते नहीं निश्चय कभी।
पीड़ा न पहुँचाते किसी को आत्म सम जानें सभी॥६॥

[१०]

मच्चायरेण रक्खइ निययं दारं च नियय मत्तीए।
पाएण कारणेणं दारं लोयाण सव्वस्सं ॥१०॥

सब लोग अपनी स्त्री की अपनी शक्ति के अनुसार रक्षा करते हैं। इसलिये कि स्त्री लोक में सर्वस्व मानी जाती है।

संसार में अर्द्धांगिनी को लोग सब कुछ मानते।
इस हेतु सब निज शक्तिभर रक्षार्थ आदर ठानते॥
कायर कहाता है वही नर जो न रक्षा कर सके।
धिक्कार उसकी शक्ति है जो नार परकीया तके॥१०॥

[११]

नय तह दुमेइ मणं धणं च धन्नं जणस्स हीरंतं।
जह दुमिज्जइ लोओ निय दारे विद्दविज्जंते॥११॥

मनुष्य का धन धान्यादि हरण हो जाने से उसे उतना दुःख नहीं होता जितना अपनी स्त्री का विनाश होते देखकर होता है।

धन धान्य सम्पा राज्य वैभव आदि जो कोई हरे।
बहु कष्ट होता किन्तु नर संयुक्त दुःख सहन करे॥
अपमान हो जब नारि का या विधुर ही होना पड़े।
निःसीम दुःख होता उसे दुःखार्त्त हो रोना पड़े॥११॥

[१२]

जो जीवदया जुत्तो परदारं सो न कहवि पत्थेइ।
नूणं दाराण कए जणो विद्दव्वं समज्जेइ॥१२॥

जो जीवदया युक्त है, वह परदारा गमन कभी नहीं करता (क्योंकि यह शील की घात है) निश्चय ही स्त्रियों के प्रति कामना के कारण मनुष्य भी विनाश प्राप्त करता है।

नारी जनों के हेतु मानव दुःख नाना सह रहे।
कर्त्तव्यच्युत हो नष्ट हो लंकेश सम अपयश लहे॥
प्राणी दया से युक्त जो जन अपर कष्ट न दें कभी।
परदार गमन विभाव से विनिमुक्त हों सत्वर सभी॥१२॥

[१३]

जारिसया उप्पज्जइ मह देहे वेयणा पहारेहिं।
तारिसया अन्नाणवि जीवाणं मूक देहेसु॥१३॥

जिस प्रकार प्रहार करने से अपनी देह में वेदना होती है, उसी प्रकार अन्य मूक प्राणियों के शरीर पर भी होती है।

जिस भाँति कोई क्रूर मानव चोट दे इस देह पर।
अनुभव यही आता हमें हो वेदनाएँ असह्यतर॥
त्यों इतर असमर्थ पशु पक्षी सभी अनुभव करें।
आत्मवत् सब सत्त्व है यह कथन सब चित में धरें॥१३॥

[१४]

जो देइ परे दुक्खं तं चिय सो लहइ लक्ख सय गुणियं।
बीयं जहा सुखित्ते वावियं बहु फलं होइ॥१४॥

जो पराये को दुःख देता है, वह करोड़ गुना दुःख प्राप्त करता है जैसे कि उपजाऊ खेत में बोया हुआ बीज विस्तृत फल देता है।

जो जीव देता है अपर को कष्ट मन वच काय से।
परिपाक जब उस कर्म का परिणाम भोगे हाय मैं॥
जो एक बीज बने विटप लागीं करोड़ परंपरा।
त्यों पाप बीज महा भयंकर फलित होते दुखकरा॥१४॥

[१५]

सयलाणंमि नईणं जयहीं मुत्तूण नत्थि आहारो।
तह जीव दया व विणा धम्मो वि न पिच्छए लोए॥१५॥
सभी नदियों के लिये समुद्र का छोड़कर कोई आधार नहीं है।
वैसे ही जीवदया के बिना लोक में कहीं धर्म नहीं है।

कल्लोलिनी सरिता चली गिरिशिखर से बह कर कहीं।
नाना पथों से विचरती आधार मात्र उदधि जहीं॥
त्यों धर्म सर्व प्रकार का आधार जीवदया कही।
इसके बिना नहिं धर्म धर्माभास मात्र जानो सही॥१५॥

[१६]

इक्क चिय जीवदया जणेइ लोयंमि सयल सुक्खाइं,
जह मलिलं धरणि गयं निप्पायइ सयल सस्साइं॥१६॥
एक जीवदया ही लोक में समस्त सुखों की देने वाली है। जैसे
कि पृथ्वी में पानी जाकर समस्त शस्य (धान्यादि) उत्पन्न करता है।

सर्व सौख्य विधायिकी इक मात्र है इस लोक में।
श्री दया माता कही पावन हृदय में जो रमें॥
ज्यों नीर पृथ्वी उदर में जा शस्य बहु उपजावती।
त्यों सर्व धर्म क्रियादि का प्रतिफल यही सरसावती॥१६॥

[१७]

नय किंचि इहं लोए जीयाहिं सो जियाण दइयं परं।
अभय पयाणाउ जगे नहु अन्नं उत्तमं दाणं ॥१७॥

इस लोक में जीवों के प्रति दया से बढ़कर कुछ भी नहीं है। अभय-दान से उत्तम जगत में कोई अन्य दान नहीं है।

इस लोक में है सार शुभ उपदेश धर्माचरण का।
प्राणीदया का तत्व मक्खन रूप अशरण शरणता॥
जिस हृदय में हो प्रतिष्ठा बैर त्याग महानता।
सब दान में है श्रेष्ठ बोला पद अभय के दान का॥१७॥

[१८]

पाणि-यह पायवाओ फलाइं कडुयाइं हुँति घोराइं।
नय कडुय बीय जायं दीसइ महुरं फलं लोए॥१८॥

प्राणि-वध रूपी वृक्ष के फल अत्यन्त कटुक होते हैं। लोक में कभी कटुक बीज से मधुर फल उत्पन्न होते नहीं देखे जाते।

प्राणि वध के बीज का जब विटप विकसित हो रहा।
फल फूल होंगे अति कटुक परिणाम जीवन खो रहा॥
जैसा वपन हो क्षेत्र में परिणाम लाभ निदान में।
क्या मधुर फल देखते कोई कटुक आधान में॥१८॥

[१९]

नियाउ न होइ गुओ उच्छू नय हुंति निंब गुलियाओ।
हिंसाए न होइ सुहं नय दुक्खं अभय दाणेणं॥१९॥

नीम से कभी गुड़ नहीं होता और इक्षु से कभी निंबोली नहीं होती। हिंसा में कभी सुख नहीं मिलता और अभयदान से कभी दुःख नहीं होता।

वपन करके निंब तरु को गुड़ कहाँ निपजायगा।
ईख बो करके कभी निंबोलि फल क्यों पायगा॥
जीव-हिंसा-रक्त प्राणी को न सुख होगा कभी।
अभयदाता व्यक्ति को दुःख वैर होगा ना कभी॥१९॥

[२०]

जो देइ अभयदाणं देइय सुक्खाइं सव्व जीवाणं।
उत्तम ठाणंमि ठिओ सो भुंजइ उत्तमं सुक्खं॥२०॥

जो अभयदान देता है और सब जीवों को सुख पहुँचाता है वह उत्तम स्थान में स्थित होकर उत्तम सुखों को भोगता है।

मन वचन काया से अभय देना यही शुभ ध्यान है।
सर्व भूतों में दया सम्पूर्ण सुख की खान है॥
स्वर्गापवर्ग मनुष्य गति में उच्च पद पाता वही।
सुख भोग उत्तम आत्म सुख-भोक्ता वही होता सही॥२०॥

[२१]

लोभाओ आरंभो आरंभाउय होइ पाणि-वहो।
लोभारंभ नियत्ते नवरं अह होइ जीवदया॥२१॥

लोभ से आरंभ, आरंभ से प्राणिवध होता है। लोभ एवं आरंभ से निवृत्त होने पर केवल जीवदया ही रह जाती है।

[२४]

धम्मं करेह तुरियं धम्मेण य हुंति सव्व सुक्खाइं।
जीवदया मूलेणं पंचिंदिय निग्गहेणं च ॥२४॥

दान, शील, तप और भावमय चतुर्विध धर्म करो। जीवदयामूल और पंचेन्द्रिय निग्रह से सब सुख होंगे।

तप, दान शील स्वभाव युत सद्धर्म का आधार है।
व्यवहार कर उनका सतत जो सर्व सुख का द्वार है॥
धर्म की जड़ है अहिंसा करो सिंचन प्रेम से।
पंचेन्द्रियों को वश करो रक्खो सदा ही नेम से॥२४॥

[२५]

जं नाम किंचि दुक्खं नारय तिरियाण तहय मणुयाणं।
तं सव्व पावेणं तम्हा पावं विवज्जेह ॥२५॥

कुछ भी दुःख जो नारक, तिर्यंच और मनुष्यों को दिखायी देता है [illegible] सब हिंसा रूप पाप से होता है इसलिये यह पाप मत करो।

सत नारक और तिर्यक् की विविधता में [illegible]
और नरभव योनि में जो दुःख जाता है [illegible]
सब पाप का परिणाम है सो बात की यह [illegible]
वर्जित करो सब पापकारी कार्य जो दिन रात हैं [illegible]

[२६]

नर नरवई देवाणं जं सुक्खं सव्व [illegible]
तं धम्मेण विढप्पइ तम्हा धम्मं [illegible]

मनुष्य, राजा और देवों को जो सर्वोत्तम सुख होता है, वह सब (दया रूप) धर्म से ही मिलता है, अतः सर्वदा यही धर्म करो।

जो मनुज देवादि गति में उच्चता संप्राप्त है।
सुख शांति साता युक्त ऋद्धि समृद्धि से परिव्याप्त है॥
उपलब्धि होती है निकेवल धर्म के आधार से।
करते रहो तुम सर्वदा ही धर्म शुद्ध विचार से॥२६॥

[२७]

जाणइ जणो मरिज्जइ पिच्छइ लोयं मरंतयं अन्नं।
नय कोइ जए अमरो कह तहवि न आयरो धम्मे॥२७॥

मनुष्य जानता है कि मरना है, और दूसरों को मरते हुए देखता है। जब कोई मरे बिना नहीं रहता तो फिर धर्माचरण क्यों नहीं करता?

नर जानता यह है कि निश्चय जन्म ही मरता सदा।
प्रत्यक्ष जाते देखता है धूल में मिलता यदा॥
जब नहीं कोई अमर है गर्व इसका क्यों करे?
कर धर्म ही में सतत उद्यम ताकि काल स्वयं मरे॥२७॥

[२८]

रुन्धिज्जन्ती किंतु जरा नट्ठा रोगाय किं मयं मरणं।
ठइयं च नरयदारं जेण जणो न कुणए धम्मं॥२८॥

क्या हम वृद्धावस्था को आते हुए रोक सके? क्या हम रोगों का निवारण कर सके? और क्या मृत्यु को मार सके! यदि ऐसा नहीं कर सके तो निश्चय है कि जीतेजी स्वभाव में स्थिर हुए बिना नरक द्वार नियत है।

इम जरा मुक्त न हो सके रोगादि को न मिटा सके।
निज धर्म में हो स्थिर मरण भय को न हाय हटा सके॥
नरक निश्चित है हमारे पाप जीवन के लिये।
आत्मभाव प्रभाव से आनन्द होता है हिये!॥२८॥

[२६]

दूसह दुह संतावं ताव न पाविंति जीव संसारे।
जाव न सुह सत्ताणं सत्ताणं जंति सम भावं॥२६॥

जब तक समभाव पूर्वक सब जीवों के सुख का विचार नहीं करता तब तक वह दुःख सन्ताप से निवृत्त नहीं हो सकता।

सत्वेषु मैत्री का न जिसको भाव जीवन में हुआ।
हनन कर सब जीव को मम भाव से भव भव मुआ॥
समभाव से सम्पन्न हो सब जीव रक्षण ठानता।
दुसह दुःखों से विरत हो सिद्धि साध्य पिछानता॥२६॥

[३०]

धम्मो अत्थो कामो अन्नो जे एव माइया भावा।
हरइ हरंतो जीयं अभयं दिंतो नरो देइ॥३०॥

धर्म, अर्थ, काम इत्यादि अन्य भी जो पदार्थ हैं उन्हें प्राण हरण करनेवाला नष्ट कर देता है और अभयदान देता हुआ देता है (प्राप्त कर लेता है)।

जो अभय दाता सभी का अर्थ पाता है सभी।
धर्म मोक्ष सुकाम से सम्पन्न होता नर तभी॥

जीव हर्त्ता अन्य का खोता सभी पुरुषार्थ है।
एक यह उपदेश केवल शुद्ध आत्म हितार्थ है ॥३०॥

[३१]

सो दयो सो तवसी सोह सुही पंडिओ य सो चेव।
जो मयल सुक्ख बीयं जीवदयं कुणइ खंति च ॥३१॥

जो दयावान है वही तपस्वी, वही सुखी और वही पंडित है, जो समस्त सुखों के बीजभूत जीवदया को क्षान्तिपूर्वक पालन करता है।

जो है दयाधारक पुरुष वह ही तपस्वी जानिये।
पंडित विचक्षण भी वही जो सदय निश्चय मानिये॥
पालन करे जो क्षान्ति-पूर्वक सर्व भूतों में दया।
सुख बीज सुखदायक सदा माता अहिंसा सदया ॥३१॥

[३२]

किं पढिएण सुएण व वक्खाणिएण काइ किरसेण।
जत्थ न विज्जइ एयं परस्स पीड़ा न कायव्वा ॥३२॥

पराये को पीड़ित नहीं करना, यदि इतना भी ज्ञान नहीं है तो पढ़ने से क्या? सुनने से क्या? और व्याख्यान आदि करने में क्या रखा है?

पठन पाठन और श्रोता वक्तृता में क्या रखा।
व्याख्यान आदि सब कलाएं व्यर्थ तुम जानो सखा॥
पर पीड़ करना पाप है इतना न जिसको ज्ञान है।
वह बाल जीवात्मा महा मिथ्यात्वमय नादान है ॥३२॥

स्वजन, परिजन और धनादि में कौन शाश्वत बुद्धि करे? जब कि प्रत्यक्ष ही जरा और मृत्यु उन्हें छेदने के लिये दौड़ रहे हैं।

ये स्वजन परिजन मित्र आदिक आज हैं तो कल नहीं।
धन धान्य घर घर बार सर्व होते नहीं अविचल कहीं॥
कौन शाश्वत बुद्धि धरता जो क्षणिक महमान है।
जरा रोग कृतान्त करता नित्य सर सन्धान है॥३५॥

[३६]

परमेसर माईया ता पिच्छह जाव डुंब चंडाला।
फरस न जायइ दुक्खं सारीरं माणसं चेव॥३६॥

परम समर्थ पुरुष से लेकर डोम, चाण्डाल आदि मनुष्यों को पूछ लो, शारीरिक और मानसिक आधि व्याधि से कौन पीड़ित नहीं है?

चक्रवर्ती वासुदेव सुशक्ति-धर भूपाल भी।
समृद्धिशाली निम्न गोत्री डोम या चांडाल भी॥
प्रिय वियोग शरीर दुःख से बच नहीं सकता कहीं।
इसलिये निज सुख रमण अतिरिक्त कोई पथ नहीं॥३६॥

[३७]

अड्डा भोगा सत्ता दुग्गय पुण पुट्ट भरण तल्लिच्छा।
तो वि न कुणंति धम्मं कह पुण सुक्खं जए होइ॥३७॥

संपन्नजन भोगासक्त, दुर्गत-दारिद्र्यवश पेट भरने में तत्पर हैं। फिर भी दयामय धर्म नहीं करते, फिर उन्हें सुख कहाँ से हो?

आढ्यता की प्राप्ति कर आसक्त भोगों में सदा।
दारिद्र्य दुख या जीविका भय से [illegible] मुक्त हुए कदा॥

कर विषय इच्छा जन्म खोया और दुःख [illegible] [illegible]
फिर सौख्य कैसे पायगा मद्यमें [illegible] [illegible]

[३८]

दियहं करेह कम्मं दारिद [illegible] [illegible]
रयणीसु नेय निद्दा [illegible] [illegible] [illegible]

दारिद्र्य के मारे पेट भरने के लिए दिन भर काम करता है, [illegible] रहित की रात्रि में भी चिन्ता के मारे निद्रा नहीं आती।

छाया नहीं है पूर्व के सत्कर्म [illegible] [illegible]
तो पेट भरने के लिये कैसे [illegible] [illegible]
दिवस भर है कष्ट करता कठिन [illegible] [illegible]
रात में निद्रा न पाता [illegible] [illegible] ।३८।

[३९]

मणि धण कणग समिद्धा धन्ना [illegible] [illegible]
ते धासाइय सुकयं पुणोवि धम्मं [illegible] ।३९।

कई लोग मणि, कंचन और धन समृद्धि से युक्त होते हैं। [illegible] करके भी जो दयारूप धर्म करते हैं, वे धन्य हैं।

मणि-रत्न और सुवर्ण धन [illegible] [illegible] [illegible] हैं।
समृद्धिशाली भोग सामग्री का [illegible] [illegible] है।
वे भोगते सुकृत कमाई पुनः धर्म [illegible]।
हैं धन्य वे कृतपुण्य हित सुख मोक्ष [illegible] पद [illegible] ।३९।

[४०]

जे पुण जम्म दरिद्दा दुहिया परपेस रोग मग्घाया।
काऊण ते वि धम्मं दूरं दुक्खाण वच्चंति ॥४०॥

फिर जो जन्म दरिद्री, दुःखी, पराये नौकर व रोगाक्रान्त हैं, वे धर्म करके दुःखों को दूर क्यों न करें ? (अर्थात् अवश्य करते हैं)

दुष्कृत्य उदय प्रभाव से निर्धन बने होकर दुःखी।
पर सुखापेक्षी तथा हैं रोगग्रस्त बहुर्मुखी ॥
फिर भी अगर सन्तोष पूर्वक धर्म में लग जायँगे।
कर नष्ट दुःख परम्परा शाश्वत सुखों को पायँगे ॥४०॥

[४१]

जो कुणइ मणे खंती जीवदया मद्दव जुवं भावं।
सो पावइ निव्वाणं नय इंदिय लंपडो लोओ ॥४१॥

जो मन में क्षांति, मार्दवयुक्त भावों से जीवों पर दया करते हैं, वे ही निर्वाण लाभ करते हैं पर इन्द्रिय लम्पट लोग नहीं।

जो शिष्टजन निज चित्त में शुभ क्षांति को धारण करें।
मार्दव तथा आर्जव सहित सब प्राणि पर करुणा धरें ॥
निर्वाण सुख को वे महात्मा प्राप्ति सत्वर ही करें।
शम-दम-तितिक्षा हीन नर शिवसुन्दरी कैसे वरें ? ॥४०॥

[४२]

जो पहरइ जीवाणं पहरइ सो अत्तणो सगत्तेसु।
अप्पाणं जो वइरी दुक्ख सहस्साण सो भागी ॥४२॥

जो जीवों—प्राणियों पर प्रहार करता है, वह अपनी ही आत्मा पर भयंकर प्रहार करता है। वह हजारों दुःखों का भाजन होता है, अतः वह अपनी आत्मा का स्वयं ही शत्रु है।

जो अन्य प्राणी पर करें निज अस्त्र शस्त्र प्रहार को।
वे कर रहे नादान अपने आप के संहार को॥
पर दुःखकारी आप ही जो दुःख पायेंगे सदा।
पर शत्रु अपने शत्रु हैं मन दुःख भारों से लदा॥४१॥

[४२]

जो कुणइ अप्पणो धम्मं अप्पाणं सो सया सुहं कुणइ।
संयय वही य सुच्चिय संचइ सुह संचयं जेण॥४२॥

जो मनुष्य धर्म करता है, वह अपने को ही सदा सुखी करता है। संयम-शील वही है जो सुख संचित करता है।

जो नरोत्तम धर्मरत रहता परम उपकार में।
उपकार अपना ही करे वह हो सुखी संसार में॥
पर हित सदा संचय करें वे शुद्ध संचयकार हैं।
वे स्वर्ग के स्वामी बनें आनन्द के आगार हैं॥४२॥

[४३]

जो देइ अभयदाणं सो सुक्खं सयाइं अप्पणो देइ।
जेण न पीडइ परं तेण न दुक्खं पुणो लहइ॥४३॥

जो जीवों को अभयदान देता है, वह हमेशा अपने को ही सुख देता है। जो पराये को पीड़ित नहीं करता उसे फिर स्वयं दुःख नहीं होता

देता रहे जो प्राणियों को अभयदान प्रधान है।
वह शान्ति अपने आप को ही दे रहा असमान है॥
जो कभी करता नहीं पर पीड़नादिक पाप को।
वह भी अभय है सर्वदा डाले न दुःख [illegible] आपको॥४४॥

[४५]

जह देउलस्स पीढो रुंधो रुक्खस्स होइ आहारो।
तह एसा जीव-दया आहारो होइ धम्मस्स॥४५॥

जैसे देवालय के लिए देव-पीठ और वृक्ष का आधार स्कन्ध है, वैसे ही यह जीवदया धर्म का आधार है।

देव मन्दिर मध्य जैसे वेदिका ही सार है।
स्कन्ध ही होता सदा तरुराजि का आधार है॥
त्यों धर्म का आधार मानो प्राणी संयम या दया।
इसके बिना नर देह पाकर व्यर्थ ही जीवन गया॥४५॥

[४६]

जो होइ जाण जोगो तेल्लुके उत्तमाण सुक्खाणं।
सो धम्म जीवदया पडिवज्जइ सव्व भावेण॥४६॥

तीनों लोक में उत्तम सुख का स्थान यदि कुछ जानने योग्य है तो यह कि जीव-दया को सर्वतोभाव से स्वीकार करना।

त्रैलोक्य में उत्तम सुखों का एक ही कारण सदा।
मन वचन काया योग में हो प्राणिरक्षण सर्वथा॥
हिंसा कही है दुःखवर्द्धक यह अटल सिद्धान्त है।
जो दयामय धर्म माने दृष्टि वह निर्भ्रान्त है॥४६॥

[४७]

जीवदय सच्च वयणं परधण परिवज्जणं सुसीलत्तं।
खंती पंचिंदिय निग्गहोय धम्मो(द्रुम्म)स्स मूलाइं ॥४७॥

सत्य वचन, पर द्रव्य त्याग, सुशीलत्व, क्षांति तथा पंचेन्द्रिय-निग्रह सहित जीव-दया धर्म रूपी वृक्ष के मूल हैं।

प्राणीदया, सच्चा वचन, पर द्रव्य परिवर्जक कहा।
सत् शील व्रत अरु क्षान्ति भी है पंच इन्द्रिय निग्रहा॥
ये धर्म-रूपी वृक्ष के हैं मूल अंग कहे गये।
इनको सदा धारण करें वे सौख्य पाते नित नये॥४७॥

[४८]

भय-रोग-सोग जर-मरण गब्भ दुव्विसह वेयणाइन्नं।
इट्ठ वियोगासारं किं न मुणह एरिसं लोयं॥४८॥

भय, रोग, शोक, बुढ़ापा, मृत्यु, गर्भावासादि की दुस्सह वेदना और इष्ट वियोगादि वाला यह असार संसार है, ऐसा क्यों नहीं मानते?

अष्ट-भय-ग्रह रोग नाना शोकमय संसार है।
गर्भ, जन्म, जरा-मरणमय दुःख अपरम्पार है॥
समता न हो संसार में संसार होता भार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥४८॥

[४९]

बालत्तणए तह जुव्वणेय मज्झिम वए य येरत्ते।
मरण भएणुव्विग्गं किं न मुणह एरिसं लोयं॥४९॥

बाल्यकाल, यौवन, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था में सर्वत्र यह लोक मरण भयोद्वेग वाला है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

यह काल बाल युवा अवस्था को न कुछ भी मानता।
प्रौढ हो या वृद्ध हो दारिद्र्य हो कि महानता॥
मरणभय उद्वेग, सुख की भ्रान्ति का विस्तार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥४६॥

[५०]

दुब्भिक्ख डमर तक्कर दुह सय दुमिज्जमाण दुमणस्सं।
इट्ठ-वियोगासारं किं न मुणह एरिसं लोयं॥५०॥

दुर्भिक्ष, डमर, तस्कर, दौर्मनस्यादि सैकड़ों दुःखों से दुःखी इष्ट वियोगादि के कारणभूत इस संसार को असार क्यों नहीं मानते ?

दुर्भिक्ष हो जब देश में सब जीव दुःख सदा सहें।
डाकू लुटेरे चोर तस्कर रोग भय क्या-क्या कहें।
जो उपाय करें सभी होते यहाँ निःसार हैं।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥५०॥

[५१]

कुल बालियाए रंडत्तणाइं तारुण्ण एय दोहग्गं।
पिय विप्पओग दुहियं किं न मुणह एरिसं लोयं॥५१॥

प्रिय के वियोग से तारुण्य में ही दुर्भाग्य और बाल-वैधव्य से अनेक कुलीन बालाएँ पीड़ित हैं, फिर ऐसे संसार को दुःख-पूर्ण क्यों नहीं मानते ?

कुलवान बाला को यहाँ वैधव्य अति दुखकार है।
तारुण्य में दुर्भाग्य दुःख सहना महा असिधार है।
प्रिय विप्रयोग अनिष्ट योगज कष्ट का विस्तार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥५१॥

[५२]

राय भर गरुय पीड़िय कालिय वड्ढंत जणिय संतावं।
दुहियं किलेस बहुलं किं न मुणह परिसं लोयं। ५२।

राज्य के असह्य गुरुतर कर भार की पीड़ा से बढ़ता हुआ जन संताप जन्य दुःख वाले लोक को क्लेश बहुल क्यों नहीं मानते?

राज्य सत्ता के करों का असह गुरुतर भार है।
बढ़ रहा सन्ताप जनता का कहाँ निस्तार है।
भूप भी मिटती नहीं दुष्कर्म फल संचार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥५२॥

[५३]

पर कम्मेणकर्त्तं निच्चं चिय पुट्ट भरण तल्लिच्छं।
धम्म सुइ विप्पणट्ठं किं न मुणह परिसं लोयं ॥५३॥

पराया काम करते हुए नित्य ही पेट भरने में तल्लीन, धार्मिक पवित्रता या श्रुति से रहित ऐसा लोक है, यह क्यों नहीं मानते?

उदर पोषण के लिये करते अधर्मी चाकरी।
पेट भी भरता नहीं हिंसा अधिकतम आचरी॥
पर काज करते रात दिन श्रुति को किया बेकार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥५३।

[४४]

कामेण अत्थ पर मग्गणेण तह चेव दाण गहणेण।
निट्ठंपि अलहमाणं किं न मुणह परिसं लोयं ॥४४॥

अर्थ-कामना से पीड़ित हो मगतापन स्वीकार करने में कितना दुःख होता है! फिर दान लेते समय कितनी लज्जा उत्पन्न होती है और अगर नहीं मिला तो फिर दुःख का पूछना ही क्या? इस प्रकार का संसार क्यों नहीं मानते?

कामना हो अर्थ की बस हेतु करते याचना।
मांगने पर लाज छूटी बिन मिले दुःख भाजना॥
मांगने से मौत अच्छी क्या करे लाचार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है।४४॥

[४५]

खण रुट्ठं खण तुट्ठं खण मित्तं चेयन्नूण येलवियं
खण दिट्ठ नट्ठ सुक्खं किं न मुणह परिसं लोयं ४५॥

क्षण में रुष्ट, क्षण में तुष्ट, क्षण में मैत्री, क्षण में प्रतारणा, क्षण में देखते-देखते नष्ट होता हुआ सुख, क्यों नहीं मानते कि यह लोक ऐसा ही है।

क्षण रुष्ट क्षण में तुष्ट हों ऐसे विलक्षण लोक हैं।
क्षण मित्रता क्षण शत्रुता क्षण शोक हों कि अशोक हैं॥
भोगते ही भोगते सुख भी बना निःसार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है।४५॥

[५६]

सारीर माणसेहिं य दुक्खेहिं समुत्थयं निराणंदं।
अप्प सुहं बहु दुक्खं किं न मुणइ एरिसं लोयं ॥५६॥

शारीरिक या मानसिक दुःखों से आच्छादित, निरानंद, अल्प सुख और बहु दुःखमय यह लोक है ऐसा क्यों नहीं मानते ?

देह में दुःखमें दण्डित कष्ट का परिवार है।
आनन्द इच्छा भी यहाँ पर स्वयं अंधाधार है॥
अल्प सुख बहु पाप का फल दे रहा धिक्कार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥५६॥

[५७]

दुज्जिमिय दुन्नियत्थं दुज्जण दुव्वयण दूमिय सरीरं।
चिंता दूमिय मणसं किं न मुणइ एरिसं लोयं ॥५७॥

दुर्नीत से प्राप्त दुष्ट भोजन के लिए दुर्जन के दुर्वचनों से [illegible] [illegible], चिन्ता से दुःखी मनवाला लोक है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

इस पेट पापी हेतु सहते दुर्जनों के द्वन्द्व हैं।
तो भी न भरता है यहाँ पर हाय कैसा द्वन्द्व है।
पेट भरता किन्तु पेटी भरण चिन्ता भार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥५७॥

[५८]

चण्डाल डुंब मोरट्ठिएहिं मच्चाइ अहम जाईहिं,
मिच्छे हिय पज्जतं किं न मुणइ एरिसं लोयं।५८

यहाँ चाण्डाल, डोम, श्वपच आदि सभी अधम जातियों से भरे हुए मिथ्या हृदय वाले लोक हैं, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

चांडाल डुंबादिक अधम जन सदा हिंसा-रक्त हैं।
मद्य आदिक सप्त व्यसनों में परम आसक्त हैं॥
हृदय तम-मिथ्यात्व छाया तमतमा का द्वार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥५८॥

[५६]

जम्मण मरण रहट्टे अट्ठसु पहरेसु घड़िय दायड़ए।
घड़िमाल ववहंतं किं न मुणह एरिसं लोयं॥५६॥

आठों पहर जन्म मरण का चक्र अरहट के घटमाल की भाँति चलने वाला लोक है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

कूप की घटमाल भरती रिक्त होती ज्यों रहे।
त्यों रात-दिन संसार में हैं जन्म लेकर मर रहे।
सुख कहीं रोदन कहीं यों वृहत् नाट्यागार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥५६॥

[६०]

वासा रत्ते विज्जुलय विद्धयं सिसिर सीय संलिन्नं।
गिम्हिवि घम्मनडियं किं न मुणह एरिसं लोयं॥६०॥

वर्षा ऋतु में बिजली से अभिभूत, शिशिर में शीत से संयुक्त, ग्रीष्म ऋतु में घाम से पीड़ित विडम्बित लोक है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

बरसात में चमकें कड़क कर बिजलियाँ गर्जा करें।
शिशिर में शरदी अधिक तन काँपते थर-थर मरें॥
ग्रीष्म में सब ताल सूखे देह घाम-प्रसार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥६०॥

[६१]

पर पेस दास दुग्गय लेहारिय लोह लोल्या बहुलं।
पुट्टलिया सय दुहियं किं न मुणह परिसं लोयं॥६१॥

पराधीनता से दुर्गत और बहुतसे लेखाचार्य (उपाध्याय) भी लोभ लोलुप लंपट और पेट के लिए सदा दुखी लोक है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

दास आजीवन बने पशु भाँति पीड़ाएँ सहें।
उदर भरने को तरसते अर्थ लोलुप जन रहें॥
लेखनी के भी धनी इस भाल लेख शिकार हैं।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥६१॥

[६२]

कण्णुट्ठ छिन्न वयणं छिन्नं तह नासियाए अंगं च।
कोढेण भिणभिणंतं किं न मुणह परिसं लोयं॥६२॥

कुष्ट रोग से कान ओष्ट और मुख छिन्न हो गया, वैसे ही नाक और दूसरे अंग भी छिन्न होकर मक्खियाँ भिनभिनाती हैं, ऐसा लोक है, क्यों नहीं मानते ?

कर्ण मुख ओष्टादि जिनके गलित सारे अंग,
रक्त रस्सी चिक-चिकाता कुष्ट इन्द्रिय

मक्खियों की भिनभिनाहट का घना परिवार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥६२॥

[६३]

काऊण पाव कम्मं गंतुं नरएसु तइय तिरिएसु।
दुक्खाइं अणुहवंतं किं न मुणह एरिसं लोयं ॥६३॥

पाप कर्म करके नरक और तिर्यंच गति में जाते तथा दुःखों का अनुभव करते देख कर भी लोक के इस स्वरूप को क्यों नहीं मानते !

पाप कार्यासक्त होकर विपयरत होते यदा।
नरक तिर्यक योनियों में दुर्दशा भोगें सदा॥
प्रत्यक्ष भूख तृपादि वध बन्धन तथा अतिभार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥६३॥

[६४]

पक्खि सिरीसिव जलयर चउप्पय तुत्तुभ वह समुज्झंतं।
मणुएसु विहम्मंतं किं न मुणह एरिसं लोयं ॥६४॥

पक्षी, सरीसृप, जलचर चतुष्पदादि का वध होता है तथा मनुष्य भी नष्ट हो रहे हैं। ऐसा लोक है, क्यों नहीं मानते।

क्रौंच, तीतर, बाज, खेचर नाम से विख्यात हैं।
साँप अजगर गोह सरिसृप और चौपद जाति हैं॥
प्रत्यक्ष वध करते मनुज नरमेध का विस्तार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥६४॥

[६५]

खर करह महिष मयिस तुरय वहय मह वेसराइ वा मीसं।
गुरु भार वहय खिन्नं किं न मुणइ परिसं लोयं ॥६५॥

गधा, ऊँट, भैंसा, पाडा, घोड़ा, घोड़ी तथा खच्चर या मिश्र गुरुतर भार वहन करने से खिन्न ऐसा लोक है, यह क्यों नहीं मानते।

शकट में जुत बैल भैंसा अश्व आदिक दुःख सहें।
ऊँट गर्दभ और खच्चर भार गुरुतर हो वहें॥
खिन्न हो अत्यन्त परवश चाबुकों की मार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥६५॥

[६६]

पुढवि जल-जलण मारुय तरु कसण वणस्सईहिं विविहाहिं
उववज्जं किं न मुणइ परिसं लोयं ॥६६॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और तृण वृक्षादि विविध वनस्पति में अनन्त उपजते हैं, ऐसा संसार है क्यों नहीं मानते।

स्वर्ण मिट्टी पाषाणादिक पृथ्वि जल की काय है।
अग्नि वायु हरित् वनस्पति विविध बहु वनराय है॥
सब पुण्यहीन निगोद योनि अनन्त अपरम्पार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है॥६६॥

[६७]

एवं जीवदया विरहियस्स जीवस्स मूढ हियस्स।
किं अत्थि किंचि सुक्खं तिल तुस मित्तंपि संसारे ॥६७॥

इस प्रकार जीवदया रहित मूढ़ हृदय जीव को क्या तिल और तुष मात्र किंचित् भी संसार में कहीं सुख है?

इस तरह यह मूढ़ मति प्राणी भ्रमित संसार में।
ज्ञान और दया रहित दुष्कर्म के व्यवहार में॥
तिल मात्र सुख मिलता नहीं तृष्णा विषय के जाल में।
दुःख ही केवल सहा है आर्त्त मन बेहाल में॥६७॥

[६८]

जज्जर जज्जरिय सकज्जलाइं दरभग्ग भित्ति भागाइं।
महइाइं मंगुलाइं गेहाइं समणि रहियाइं॥६८॥

जीर्ण होने से जर्जरित, कल्मष से काले कलूटे, दीवाल व दरवाजे जिसके टूटे फूटे हैं ऐसे छोटे व खराब घरों में बर्तन भाँड़ों से रहित—

धूम्र से काला कलूटा जर्जरित है सर्वथा।
द्वार भी टूटे हुए हैं भग्न दीवालें तथा।
मलिनतम गन्दे घरों में वसन-वासन भी नहीं।
परिणाम हैं उस पाप के पाली न जीवदया मही॥६८॥

[६९]

जं दियहं दारुण दूसहेहिं दारिद्द दोस दुहिएहिं।
सी-उण्ह-वाय परिसोसिएहिं कीरंति कम्माइं॥६९॥

जो दारुण, दुस्सह दारिद्र्य दोष से दुःखी शीत तथा गरम वायु से परिशोषित, काम करते हुए दिन बिताते हैं।

दारुण दुःखों में बीतते दिन कठिन और असह्य भी।
दारिद्रता दूषण महा चिन्ता - चिता सी जल रही॥

शीत में नहिं वस्त्र लू में तीव्र परिशोषित रहे।
उदर पोषण हेतु भ्रमता दुःख भीषणतम सहे ॥६६॥

[७०]

जं पर घर पेसण कारएहिं सीयल व विरस रुक्खाइं।
भुंजंति अवेला भोयणाइं परिभूय लद्धाइं ॥७०॥

जो पराये घर पीसना आदि कर के ठण्डा, निरस, रूखा-सूखा असमय भोजन करते हैं और वह भी तिरस्कार पूर्वक प्राप्त होता है।

पीस चक्की पर घरों में कठिन धन्धे भी किये;
समय असमय शुष्क रूखा खाय केते भी जिये॥
मान या अपमान भोगे जन्म हो [illegible]
परिणाम हैं उस पाप के पाली न जीवदया अरे ॥[illegible]॥

[७१]

जं दूहव दूसह दुकलत्त निच्चं च [illegible]
तेहिं समं चिय कालो निज्जइ अच्चंत [illegible]

जो दुर्भग, दुस्सह और नित्य ही कलहकारिणी [illegible] हैं, इनके साथ अत्यन्त दुःख से काल व्यतीत [illegible] है।

दुःशील वाली कर्कशा नारी [illegible]
क्लेश करती ही रहे जो [illegible]
जीवन विताना साथ उसके [illegible]
पाप का परिणाम है यह [illegible]

[७२]

जं मइलिय चीर नियंसणेहिं सिर लुक्क फुट्ट चरणेहिं।
परिसक्किज्जइ दीणं आहारं पत्थमाणेहिं ॥७२॥

जो मलिन चीर-वस्त्र से सिर ढँके, फटे पाँवों से दैन्यपूर्वक आहार के लिए प्रार्थना करती हुई अवकृत होती है।

मैले कुचेले चीर कन्या युक्त जर्जर हो रहे।
सिर देह रहते हैं उघाड़े नागरिकता खो रहे॥
फटे नंगे पाँव से जा हीनता यों याचती।
अधन्या हो हीनपुण्या द्वार - द्वारे प्रार्थती॥७२॥

[७३]

जं खास सोस सिर वेयणाहिं खय कोढ चक्खु रोगेहिं।
अट्ठी भंगे हिय वेयणाओ विविहाउ पाविंति॥७३॥

जो खास, श्वास, शिरपीड़ा, क्षय, कुष्ट, चक्षुरोग, हड्डी टूटने एवं हृदय रोगादि से विविध वेदना पाते हैं।

क्षय कुष्ठ सिर की वेदना या चक्षु आदिक रोग हैं।
अस्थि टूटी हृदय रोगी कर्म के सब भोग हैं॥
रोम प्रति हैं रोग ढाई प्रगट हों असमाधियें।
बन्धन समय चेते नहीं रोवे उदित जब व्याधियें॥७३॥

[७४]

जं इट्ठ विओगाक्कंदणेहिं दुव्वयण दूमिय मणेहिं।
पिज्जइ लोणंसु जलं दुह मसमं उव्वहंतेहिं॥७४॥

जो दुर्वचनों से दुःखित मन से इष्टवियोग के आक्रन्दन द्वारा अश्रुओं का खारा जल पीते हुए असह्य दुःख सहन करते हैं।

दुर्योग इष्ट-वियोग ही मिलते कुकर्माधीन हो।
दुर्वचन से दुःखी हृदय आक्रन्द करते दीन हो॥
अश्रुजल खारा पियें वे अन्तरात्मा में दहें।
वंचित अहिंसा साधना से कर्म फल दारुण सहें॥७४॥

[७५]

जं काणा खोड़ा वामणाय तह चेव रूव परिहीणा।
उप्पज्जंति अणंता भोगेहिं विवज्जिया पुरिसा॥७५॥

जो काना, खोड़ा (लंगड़ा), वामन और रूपहीन अनन्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सुख भोग से निरर्जित हैं।

काणे कुबड़े अन्ध लँगड़े और बौने बन रहे।
हीनाङ्ग ऐसे हैं असंख्यों कौन कैसे क्या कहे?॥
विविध पाप प्रधान जीवन योनियों की गति सहे।
वंचित अहिंसा साधना से कर्म फल दारुण सहे॥७५॥

[७६]

इय जं पाविंति दुहं सयाइं जण हियय सोस जणयाइं।
तं जीवदयाए विणा पावाण वियंभियं सव्वं॥७६॥

इस प्रकार मनुष्य सैकड़ों हृदय-शोष-जनक दुःख जो पाते हैं वे जीवदया बिना उपार्जित पापों से विजृम्भ हैं।

इस तरह दुःख मर्मस्पर्शी पा रहे भय युक्त हों।
पूर्व कृत परिणाम हैं प्रत्यक्ष कैसे मुक्त हों॥
जीवरक्षा के विना विक्षोभ ही विक्षोभ है।
क्या करें संसार में तो लोभ ही बस लोभ है॥७६॥

[७७]

ते चेव जोणि लक्खा भमियव्वं पुणवि जीव संसारे।
लहिऊण माणुसत्तं जइ न कुणसि उत्तमं धम्मे॥७७॥

मनुष्य जन्म को पाकर यदि धर्मोत्तम नहीं करोगे तो फिर भी हे जीव! तुम्हें संसार में लाखों योनियों में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

दृष्टान्त दस सुप्रसिद्ध हैं नर देह पाने के कठिन।
प्राप्त कर भी है नहीं जिनधर्म-पथ में क्यों लगन?
तो हार के यह रत्न मणि संसार में वह जायगा।
लक्ष चौरासी भटकता कष्ट भव-भव पायगा॥७७॥

[७८]

नरएसु सु दुस्सह वेयणा उपत्ताओ जाइं पइ मूढ।
जइ ताउ सरसि इन्हिं भत्तंपि न रुच्चए तुज्झ॥७८॥

नरकादि में उत्पन्न होने पर जो दुस्सह वेदनाएँ प्राप्त होती हैं, यदि उनके जैसी यहाँ हो तो हे मूर्ख! तुम्हें भोजन भी न रुचे।

नरक गति उत्पन्न हो भोगी ज्वलन्ती वेदना।
उसका नहीं कुछ पार है वर्णन जिनागम में घना॥
वैसा यहाँ देखो अगर तुम लेश भी संक्लेश को।
तो भोग की रुचि भी न हो समझो दया संदेश को॥७८॥

[७६]

अच्छंतु ताव नरया जं दुक्खं गब्भ रुहिर मज्झंमि।
पत्तं च वेयणिज्जं तं संपइ तुज्झ वीसरियं॥७६॥

जो दुःख गर्भावास में रुधिर के बीच है, वह नरक से नरक है। वहाँ जो वेदना प्राप्त की, वह अब तुम्हें विस्मृत हो गई।

जो दुःख गर्भावास में औंधे [illegible] सहा।
रक्त रस्सी बीच में मल-मूत्र दुर्गन्ध सहा॥
जन्म ले उस वेदना को तुरत ही विस्मृत किया।
रच पच गये संसार में तुम मोहित बना दिया॥७६॥

[८०]

भमिऊण गब्भ गहणं दुक्खाणि [illegible] विविहाइं।
लब्भइ माणुस जम्मं अणेग भव कोडि दुल्लंभं॥८०॥

गर्भावस्था प्राप्त कर भ्रमण करते हुए विविध [illegible] अनेक कोटि भवों में दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त होता है।

नाना भवों में भ्रमण करते दुःख [illegible] हैं।
कितने सहे गिनती नहीं सब [illegible] हैं॥
दुर्लभ अनन्तों जन्म में यह मनुष्य [illegible] गया।
फिर धर्म सामग्री मिली तो और भी [illegible]॥८०॥

[८१]

तत्थ चिय केइ गब्भे मरंति [illegible]
अन्ने पुण अंधलया जायन्ति [illegible]॥

। कर

वहाँ (मनुष्य भव पा कर) कई तो गर्भ में ही मर जाते हैं, तो कोई बाल्यकाल और तरुणावस्था में, अन्य फिर अन्धे होकर आजीवन दुःख भोगते हैं।

मरते कई हैं गर्भ में भी कई बालक काल में।
कुछ तरुणवय में पतित होते दुष्ट यम के गाल में॥
कुछ अन्ध होकर कष्ट भोगें पूर्ण जीवनकाल में।
इस भाँति नर देही निरर्थक हो गई जंजाल में॥८१॥

[८२]

अन्ने पुण कोढियया खय वाही गहिय पंगु मूगाय।
दारिद्देणभिभूया परकम्मकरा नरा बहवे॥८२॥

फिर अनेक कोढी, क्षय रोगी, लँगड़े और गूँगे हो जाते हैं। दारिद्र से अभिभूत बहुत से लोग पराये घर काम करने वाले हैं।

कोढी बना क्षय रोग ग्रसित, काल यह विकराल ही।
कुछ पंगु लँगड़े घूमते कुछ मूक हैं वय बाल ही॥
दारिद्रय से अभिभूत जन बहु काज पर घर में करें।
इस भाँति पा नर देह को भी व्यर्थ खोकर ही मरें॥८२॥

[८३]

थेवाणं होइ दव्वं तंमिय जल जलण चोर राईहिं।
अवहरियंमिय संते तिव्वयरं जायए दुक्खं॥८३॥

बहुत थोड़ों के पास द्रव्य होता है, उसे भी जल, अग्नि, चोर और राज्य का भय है। अपहरण हो जाने पर तीव्रतर कष्ट उत्पन्न होता है

अहा उन-[illegible] [illegible] नहीं निर्मल है नहीं।
जड़-अग्नि-[illegible] [illegible] [illegible] नहीं॥
अपहृत हो [illegible] [illegible] दुख [illegible] करते रहे।
इस भाँति [illegible] के [illegible] दुख में हो [illegible] ॥७॥

[८]

पश्चिमंति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
सागर [illegible] वि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥८॥

अर्थोपार्जन के हेतु मनुष्य युद्धक्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं [illegible] धारा, अग्नि शिखा स्फुलिंग [illegible] हैं, वैसे ही [illegible] में भी [illegible] होते हैं।

रणक्षेत्र में युद्धकर मरे वे कहलाते [illegible]।
इस देह भी [illegible] नहीं स्फुलिंग [illegible] [illegible]॥
अर्थ हेतु समुद्र में जा [illegible] [illegible] [illegible] मरे।
इस भाँति पा नर देह भी वे [illegible] [illegible] [illegible] ॥८॥

[९]

इय [illegible] अमरं संसारे दुर्लभं च मनुष्यत्वं।
[illegible] कीरउ जीवदया [illegible] विउड़ [illegible] दुक्खाइं ॥९॥

इस प्रकार संसार की असारता और मानव भव की दुर्लभता जान कर समस्त दुःखों को नाश करने वाली जीवदया धारण करो।

यों ज्ञात करके जगत की [illegible] हो निस्सारता।
दुर्लभ मनुज भव जिन न पावें [illegible]

सब दुःख नाशक मात्र है यह तत्व प्राणी की दया
धारण करो सुविवेक से सब गुण इसी में आ गया ॥८५॥

[८६]

भव लक्खेसु वि दुलहं संसारे मूढ जीव मणुयत्त
तेण भणिमो अलज्जिर अप्पहियं किं न चिंतेसि ? ॥८६॥

हे मूर्ख ! संसार में लाखों भवों में भी दुर्लभ मनुष्य जन्म है। अतः
मैं कहूँगा कि हे निर्लज्ज ! आत्म हित चिन्तन क्यों नहीं करते ?

रे मूर्ख ! इस संसार में नर देह को तू पा गया।
लाखों भवों के बाद भी यह रत्न हाथों आ गया।
इसलिये कहते मनीषी इसे मत असफल करो
प्राप्त अवसर आत्मचिन्तन साधना अविचल धरो ॥८६॥

[८७]

दियहाइ दोन्नि तिन्नि व अद्धाणं होइ जंतु लग्गेण।
सव्वायरेण तस्सवि संबलए उज्जमं कुणसि ॥८७॥

दो तीन दिन या आधे दिन के लिए भी यदि प्रवास में जाना हो
उसके लिए सर्वादरपूर्वक संबल के लिए उद्यम करते हो।

जाना अगर बाहर हुआ दो एक दिवस प्रवास में।
हो अर्द्ध दिन के ही लिये तैयारियाँ आवास में॥
जलपान करने के लिए संबल सजाते हो सदा।
कारण सफर में क्षुधित भी रहना पड़े नहिं सर्वथा ॥८७॥

[८८]

जो पुण दीह पवासो चउरासी जोणि लक्ख नियमेण।
तस्स तव सील मइयं संबलयं किं न चिंतेसि ? ॥८८॥

जो फिर चौरासी लक्ष जीवा योनि का नियम से दीर्घ प्रवास है, उसके लिए तप, शील संयुक्त संबल की चिन्ता क्यों नहीं करते ?

फिर लक्ष चौरासी भवों का बहुल दीर्घ प्रवास है।
नियमा भटकना होयगा संबल नहीं शुद्ध पास है॥
तद् हेतु संयम शील तप का सबल संबल चाहिए।
इसके बिना फिर सिद्धि स्थितिको कहो कैसे पाइये॥८८॥

[८६]

पहरा दियहा मासा जह-जह संवच्छराइं वोलिंति।
तह-तह मूढ वियाणसु आसन्नो होइ ते मच्चू॥८६॥

प्रहर, दिन, महीने और वर्ष जैसे-जैसे बीतते जाते हैं वैसे-वैसे ही हे मूर्ख! यह जान लो कि मृत्यु निकट आ रही है।

पल पल प्रहर हैं बीतता दिन पक्ष मौसम मास भी।
ये वर्ष बीते जा रहे हैं क्षीण होते श्वास भी॥
इस मूर्ख क्यों न विचारते आयुष्य प्रतिपल घट रही।
मरना निकटतम आ रहा तुम बदलते करवट नहीं॥८६॥

[६०]

के दियहं वास सयं सत्ताविं रयणी सुहीरए अद्धं।
किंचि पुण बालभावे गुण दोस अयाणमाणस्स॥६०॥

सौ वर्षो के कितनेक दिन होते हैं? जिसमें आधे तो रात्रि में सोकर गँवा दिये, और फिर कुछ गुण दोष (भला-बुरा) न जानकर बाल-भाव में गँवा दिये।

कितने दिवस होते वरस में त्यों शतायुष दीर्घतर।
अर्द्ध जाते रात के सोते हैं जिनको सोच कर॥
गुण-दोष कृत्याकृत्य का नहिं ज्ञान बालक भाव में।
खो दिया है सर्वथा पड़ भव समुद्र बहाव में।६०॥

[६१]

सेसं कम्मेण चिय वेहाण अद्धाण ग्वेय खिन्नाणं।
वाहि मय पीड़ियाणं जराइ संखंडियाणं च ॥६१॥

अवशिष्ट वर्षों को आधे काम धन्धे में बिताते रोग-खिन्न शत व्याधि पीड़ित और जरादि से खण्डित कर दिये।

अवशिष्ट आयुष के वरस व्यापार धन्धे आदि में।
लग कर बिताये हैं अहर्निश मोहवश असमाधि में॥
शत व्याधि पीड़ित खेद खिन्नादिक अवस्था में गये
बहुमूल्य नरभव जरा जर्जर युक्त खण्डित कर दिये॥६१॥

[६२]

जम्स न नज्जइ कालो नय वेला नेय दियह परिमाणं।
नरएवि नत्थि सरणं नय वेला दारुणो मच्चू॥६२॥

जो न काल, न समय, न दिन, न आयु-परिमाण देखती है, ऐसी दारुण मृत्यु के समय नरक में भी शरण नहीं।

कब आयगा है क्या ठिकाना काल सिर पर छा रहा।
आयुष्य परिमाणादि का न विचार कुछ भी आ रहा॥
नरक तक में भी शरण पाता न कोई काल से।
ऐसी भयंकर मृत्यु है कोई न छूटे जाल से॥६२॥

[६३]

इय जाव न चुक्कसि परिसरस्स खण-भंगुरस्स देहस्स।
जीवदया उ जुत्तो ता कुणइ जिणदेसियं धम्मं। ६३।

इस प्रकार के क्षणभगुर देह को जहाँ तक नहीं छोड़ देते, वहाँ तक जिनोपदिष्ट धर्म जो जीवदया युक्त है, उसे करो।

इस देह का ऋण चूकना जब तक नहीं संसार में।
तब तक न चक्कर चूकता चौरासि तथा प्रकार में॥
जप तप दयामय धर्म जिन का आचरण होता नहीं।
तब तक न भृण चुकता यहाँ कुछ भी करो निश्चित यही।६३॥

[६४]

जस्स दया तस्स गुणा जस्स दया तस्स उत्तमो धम्मो।
जस्स दया सो पत्तं जस्स दया सो जए पुज्जो। ६४।

जिसके हृदय में दया है उसी में गुण है, जिसके हृदय में दया है उसी में उत्तम धर्म है, जिसके हृदय में दया है वही पात्र है और जिसके हृदय में दया है, वही जगत् में पूज्य है।

जिसके हृदय बसती दया वह सद्गुणों का धाम है।
उसमें सकल निज धर्म हैं यह जीव का विश्राम है॥

जिसमें दया है एक लक्षण पात्रता का जान लो।
जिसमें अहिंसा धर्म उसको पूज्य जगमें मान लो ॥६४।

[६५]

जस्स दया सो तवसी जस्स दया सोय सील संपत्तो।
जस्स दया सो नाणी जस्स दया तस्स निव्वाणं।६५॥

जिसके हृदय में दया है वही तपस्वी है, जिसके हृदय में दया है वही शील सम्पन्न है। जिसके हृदय में दया है वही ज्ञानी है, जिसके हृदय में दया है उसीके निर्वाण लाभ होता है।

यह ही तपोधन है कहा जो जीवरक्षा कर रहा।
जिसके हृदय में है दया वह शील युत हो तर रहा॥
ज्ञानी वही है जो सदय निर्वाण का साधक बना।
यह ही कहा है तीर्थपति का चरण आराधक बना ॥६५॥

[६६]

जो जीवदया जुत्तो तस्स सुलद्धो य माणुसो जम्मो।
जो जीवदया रहिओ माणुस वेसेण सो पसुओ ॥६६॥

जो जीवदया युक्त है, उसी को मानव जन्म की सुप्राप्ति है। जो जीवदया रहित है वह मनुष्य के वेश में पशु है।

उस श्लाघ्य मानव जन्म की उपलब्धि सफला हो गई।
जिसके हृदय में प्राणी हिंसा की प्रतिष्ठा खो गई।
प्राणीदया से जो रहित गुण भी सकल दुर्गुण बने।
पशु तुल्य मानव जन्म जिसमें अन्य जीवों को हने ॥६६॥

[६७]

अहवा दूर पणट्ठो संपइ एस मत्तणस्स सो पुरिसो।
जो जीवदया जुत्तो करेइ जिण देसियं धम्मं ॥६७॥

मानव जीवन में पशु से भी बदतर ऐसा हिंसापूर्ण वर्तन करने वाले ने अपना वर्तमान काल नष्ट कर दिया है और जो जीवदया युक्त होता है वह निरन्तर जिनोपदिष्ट दया-धर्म का पालन करता है।

पशु सम करे वर्तन सदा नर जन्म उसने खो दिया।
हिंसा रमण करके महा दुःख बीज उसने बो दिया॥
'सब्ब जग रक्खण' सुशिक्षक हैं जिनेश्वर देव ही।
जो पालता यह धर्म वह नर देव है स्वयमेव ही॥६७॥

[६८]

सीए वन्हे य तवं जइ तप्पइ उद्ध-बाहु पंचग्गी।
दाणं च देइ लोए दया विणा नत्थि से किंचि ॥६८॥

शीत एवं उष्णकाल में जो उर्द्ध बाहु करके पंचाग्नि तप तपता है, लोक में दान भी देता है पर दया के बिना कुछ भी नहीं।

शीत में निर्वस्त्र होता ग्रीष्म में तप तापता।
पंचाग्नि ऊँची बांह कर आकाश को भी नापता॥
दान भी देता प्रचुर यश लाभ का ही लोभ है।
प्राणीदया के भाव बिन होता सदा विक्षोभ है॥६८॥

[६९]

थेवोवि तवो थेवंपि दिन्नयं जं दयाए संजुत्तं।
तं होइ असंख गुणं बीयं जह वास संपत्तं ॥६९॥

जो दया से संयुक्त थोड़ा भी तप और दान देता है तो वह वर्षा-सिंचित बीज की भाँति असंख्य गुणा हो जाता है।

अल्प भी जो तप तपे अरु अल्प भी यदि दान दे।
प्राणीदया संयुक्त हो तो महाफल प्रतिदान ले॥
बीज बोया जाय वर्षा समय के अनुकूल हो।
प्राप्त करता वह असंख्य गुणित सरस फल फूल जो॥९९॥

[१००]

एक्कापि जेण पत्ता निय देहे वेयणा पहारेहिं।
न कुणइ जइ जीवदया सो गोणो नेय माणुससो॥१००॥

अपने शरीर पर एक भी प्रहार करने से कितनी वेदना होती है? यह अनुभव कर जो जीवों पर दया नहीं करता वह मनुष्य नहीं, बैल है।

निज देह पर तो एक हलकी चोट भी सहता नहीं।
पर प्राण को हरता सदा रक्षण करो कहता नहीं॥
वह बैल होकर चोट ऊपर चोट ही स्वीकारता।
नर जन्म में हिंसक बना जो बैल गतिको धारता॥१००॥

[१०१]

जं नारयाण दुक्खं तिरियाणं तहय माणुसाणं च।
तं जीव-पीड़ जणियं दुव्विसहं होइ लोयंमि॥१०१॥

इस लोक में जो असह्य दुःख नारकों, तिर्यञ्चों और मनुष्यों को है, वह दुस्सह दुःख जीव पीड़ा-जनित पापों का ही परिणाम है।

तिर्यंच नरक निगोद में संकट भयंकर भोगते।
देवता भी हैं दुःखी निज आयुकर्म वियोगते॥
नर-देह में भी दुःख भरा है सौख्य का तो नाम है।
जीव पीड़ा-जनित केवल पाप का परिणाम है॥१०१॥

[१०२]

कालो अणाइ निहणो जीवो दव्व गुणेहिं अविणासी।
तो मा कीरइ पावं जण! जीव दयालुया होह!॥१०२॥

द्रव्य गुण से जीव अविनाशी है, पर काल अनादि अनन्त है। अतः हे मनुष्यो! पाप मत करो और जीवों के प्रति दयालु बनो!

द्रव्य गुण है जीव के ध्रुव नित्य है यह काल भी।
तू जीव हिंसा के बिना क्या नष्ट होगा हाल ही॥
पाप मत कर! पाप मत कर! घोष है जिनधर्म का।
जीव रक्षण कर सदा ही हो न बन्धन कर्म का॥१०२॥

[१०३]

जा कीरइ जीवदया अच्चो जिन्हो रयण जीयाणं।
दुक्खाण अणागमणे तह सुक्खाणं अयाण मणे॥१०३॥

जिसने जीवदया की है उसने जिन जीवों की प्रेमपूर्ण पूजा नहीं की! (जो सब जीवों को इस प्रकार सुख पहुँचाता है) उसको दुःख नहीं आ सकता और अजाने ही सभी सुख उसके मन में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं।

जीव रक्षण कर लिया जिसने सदा नर देह में।
उसने सभी पूजन किया सद्भक्तिमय रह गेह में॥...

आयास बिन अनजान ही सुख-स्रोत उसका खुल गया।
दुःख कभी आवे नहीं जो नित्य करते हैं दया ॥१०३॥

[१०४]

सो होइ बुद्धिमंतो अलियण न जो परस्स उवघाई।
सो होइ सुही लोए जो खाइ न मज्ज मंसाई ॥१०४॥

जो झूठ से परोपघात नहीं करता तथा मद्य मांसादि भक्षण नहीं करता, वही बुद्धिमान है और वही जगत में सुखी होता है।

उपघात हो जाता पराया झूठ वचनोच्चार से।
धीमान उसको मानिये जो बचें मिथ्याचार से ॥
मांस-भोजी, मद्य-पेयी जो नहीं होते कभी।
लोक में होंगे उन्हीं के लिए प्रस्तुत सुख सभी ॥१०४॥

[१०५]

सो पंडिउ त्ति भन्नइ जेण सया नेय खंडियं सीलं।
सो सूरो धारहड़ो इंदिय रिवु निज्जिया जेण ॥१०५॥

जो सर्वदा अखण्ड शीलवान है वही पण्डित कहलाता है। शूरवीर, सुभट वही है, जिसने इन्द्रिय रूपी रिपुओं को जीत लिया।

शील से बढ कर जगत में और अन्य न गुण कहा।
पण्डित विचक्षण है वही जिसका अखण्डित व्रत रहा ॥
पाँच इन्द्रिय के विषय तेवीस मानो अति विकट।
जिसने हराया अरिगणों को वही सच्चे हैं सुभट ॥१०५॥

[१०६]

रिद्धो जुव्वण गमो रइ सुह सोहग्ग सच्चयं मीठो।
मो जर धाडी इयओ मयरदय राइणो मद्दं ॥१०६॥

सौभाग्यवान, सत्य शील और यौवन समृद्ध होते हुए भी जिसने रति सुख त्यागा उसने जरा की धाड़ और मकरध्वज राजा का मान मर्दन कर दिया।

सौभाग्यशाली, सत्य यौवन ऋद्धि से परिपूर्ण है।
त्याग के रति सुख मर्मी वे कर्म करते चूर्ण है॥
धाड़ उसने जरा रिपु की है भगायी शान से।
मर्दन किया है मदनको खण्डित किया अभिमान से ॥१०६।

[१०७]

सयणस्स वि मज्झ गयं ओयरिउं लेइ मइवालेहिं।
मारेइ न धरि मिल्लइ घोर जरा रक्खसी पुरिसं ॥१०७॥

मरणोन्मुख व्यक्ति यदि स्वजनों के बीच जाकर भी शरण लेता है तो भी घोर जरा राक्षसी पुरुषों को मारती है, पर छोड़ती नहीं।

स्वजन परिजन मध्य आ कर व्यक्ति जो शरणा गहे।
मरणोन्मुखी वह हो कभी भी ना बचे मरणा लहे॥
घन घोर दारुन जरा यही मारती नहिं छोड़ती।
नरवर पुरुषको नाश करने में न यह मुख मोड़ती ॥१०७॥

[१०८]

भव रत्ने जीव मओ जो गहियो तेण मरण सीहेण।
असमत्था मोएउं सयणा देवाय इंदावि ॥१०८॥

भव रूपी अरण्य में जिस जीव को मरणरूपी सिंह ने ग्रहण कर लिया, वह मर गया। उसे छुड़ाने के लिए स्वजन, देव और इन्द्र भी असमर्थ हैं।

भव रूप घोर अरण्य में यह घूमता हरि एक है।
नाम उसका मरण है और अचल उसकी टेक है।
जिस जीव को है ग्रहा उसने मरा, पर न बचा कभी।
स्वजन परिजन अमर इन्द्रादिक हुए असमर्थ भी ॥१०८॥

[१०६]

तुम्हे महल्लयाइं लइयाइं जेण काल-सप्पेण।
सो किं कहवि पलाओ मज्झ वीसत्थयर अंगं ॥१०६॥

कालरूपी सर्प के द्वारा तुम निरन्तर भक्षण किये जा रहे हो और संसार में विश्वस्त होकर इस प्रकार बैठे हो मानो काल में कोमलता हो, परन्तु उससे बच कर कहाँ भग सकोगे?

जो काल सर्प निगल रहा है द्रव्य प्राणों को यहाँ।
उससे पलायन कर अरे तुम भाग सकते हो कहाँ?
निश्चिन्त होकर सो रहे हो कर्म की आसक्ति में,
क्यों न मन रखते निरन्तर देव गुरु की भक्ति में ॥१०६॥

[११०]

जर केसर वीहच्छओ दढ दाढा दुपिच्छओ।
वयण कर रुहिर भिंदओ विचरइ मरण मइंदओ ॥११०॥

मरणरूपी मृगेन्द्र बीभत्स केसरी-केश जिसके फैले हुए हैं, जिसके दाँत, दाढाएं खुली हुई हैं, जिसकी पूँछ कुटिल है और जिसके हाथ और मुँह हाथियों के कुंभस्थल विदीर्ण करने के कारण रुधिर से सने हुए हैं, चारों तरफ घूम रहा है।

यह मरण रूप मृगेन्द्र जग में घूमता स्वच्छंद ही।
बीभत्सता इसकी घृणास्पद संतजन कहते सभी॥
पूंछ जिसकी है कुटिलतम दन्त दाढा विकट हैं।
रुधिरमय है कर वदन यह काल सब के निकट है॥११०॥

[१११]

जो जीवदया अजुत्तए दारुणए मंस रस पुच्छए।
पर.दुक्ख अयाणमाणए से पुरिसे जय पूयणिज्जए॥१११॥

जो जीवदया से रहित है, वही दारुण मांस रसकी चाह करता है। पराये दुख को न जाननेवाला वह पुरुष क्या जगत में पूजनीय हो सकता है?

प्राणीदया से रहित जो नर देव देवी भी रहा।
मांसभोजी या बली-इच्छुक पुजारी जन कहा॥
पर दुःख जो न पिछानता भीगा न करुणा दृष्टि में।
मान्य होगा क्या कभी यह ज्ञानियों की दृष्टि में॥१११॥

[११२]

जइ रक्खइ नेय अलियए निय धणं निय कलत्तए।
जइ तह विणएव रक्खए ता किं पावेइ कोइ मुक्ख ए॥११२॥

जो अपने को कंचन कामिनी के मिथ्या सम्बन्ध से नहीं बचाता और केवली प्रभु के विनय के आधार पर आत्मा की रक्षा नहीं करता। वह कैसे सिद्ध हो सकता है?

कंचन कलत्रादिक परिग्रह जो न तजता भाव से।
प्रभु के विनय-चारित्र से निज गुण न रखता चाव से॥
निर्ग्रंथ वचनों से रहित हो पाप के विस्तार में।
वह सिद्धि कैसे पायगा जो रम रहा संसार में॥११२॥

[११३]

जइ इच्छह सयल सुक्खए अह सायहु परम सुक्खए।
ता होह दयाए जुत्तए करह य जिणाण वुत्तए॥११३॥

यदि सकल सुखों की इच्छा करते हो या मोक्ष की परम साधना करना चाहते हो तो जीवदया युक्त होकर जिनोक्त धर्म करो।

जो चाहते सुख नित्य केवल धर्म का साधन करो।
जो चाहते हो मोक्ष तो जिन वचन आराधन करो॥
धारण करो दिल में दया हिंसा सदा वारण करो।
छोड़ो निमित्ताधीनता संसार निष्कारण करो॥११३॥

[११४]

सो सव्वस्स वि पुज्जो सव्वस्स वि हियय आसमो होइ।
जो देस काल जुत्तं पिय वयणं जाणए वुत्तुं॥११४॥

वह सब से पूज्य और सभी के हृदय में उसको स्थान प्राप्त होता है जो देश काल युक्त प्रिय वचन बोलना जानता है।

जो देश काल-विचार कर प्रिय वचन सत्य उचारते।
वे सन्त सब के हृदय को विश्राम देकर धारते॥
होते सभी के पूज्य पाते दिव्यतर सन्मान है।
रहता सदा उनको निरन्तर सर्वहित का ध्यान है।११४॥

[११९]

जं कल्ले कायव्वं अज्जं चिय तं करेह तुरमाणा ।
बहु विग्घो य मुहुत्तो मा अवरण्हं पडिक्खेह ॥११९॥

जो कल करना है, आज ही अभी शीघ्र कर डालो। दूसरे दिन की प्रतीक्षा मत करो। क्योंकि मुहूर्त में भी बहुत विघ्न आ सकते हैं।

करना तुम्हें जो कल, करो वह आज ही तत्काल अभी।
जानो क्षणिक यह काल किसके हाथ में आया कभी॥
जैसा समय उपलब्ध है उपयोग कर लो ध्यान से।
जप तप व्रतादिक आचरो सम्यक्त्व पूर्वक ज्ञान से॥११९॥

प्रशस्ति :—

इन्द्रादि भी जिनकी अहर्निश चरण कज सेवा करें।
गुणधर सद्गुरु नायकोत्तम योग ध्यान हृदय धरें।
एकावतारी पुण्य प्रतिमा आज पंचमकाल में,
है धन्य सहजानन्द स्वामी मग्न निज गुण ख्याल में।
जिनभद्रसूरि सुशिष्य से प्रकरण हुआ [illegible],
हरिगीतिका में रच दिया अब लेखनी यह [illegible]।
मैं छन्द भाषा आदि से अनजान हूँ [illegible]।
पर है 'भंवर' की कामना स्वाध्याय को इक [illegible]।
पचीससौ से कम रहे द्वय वर्ष [illegible] है।
इस कालिकाता वंग भू में भाव-[illegible] है।
ये पद्य पढ़ कर जीव रक्षण [illegible] लिया।
आजन्म आज समान भावन [illegible]

नाना वृत्तक प्रकरण

नमिऊण जिणं जय जीववंधवं धम्म कणय कसवट्टं।
वुच्छं धम्ममईणं धम्म विसेसं समासेण ॥१॥

धर्मरूपी कनक के लिए कसौटी सदृश जगद्बन्धु जिनेश्वर को नमस्कार करके धर्म-बुद्धि से संक्षेप में विशिष्ट धर्म कहता हूँ।

नाणा चित्ते लोए नाणा पासंडि मोहिय मईए।
दुक्खं निव्वाहेउं सव्वन्नुवएसिओ धम्मो ॥२॥

अनेक पाखण्डियों से मोहित बुद्धि वाले एवं अनेक प्रकार के चित्तवाले इस लोक में दुःख की निवृत्ति (निष्ठुयमेक) का हेतु (एक मात्र) सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म ही है।

वत्तणुवत्त पउत्तो बहु कवि कोउसु बद्ध सन्नाहो।
अविमरिसिय सब्भावो लोओ अलिओ य वलिओय ॥३॥

अनेक काव्य कला में प्रवृत्त लोगों तथा कवि के कौतुकों से कटिबद्ध लोगों के द्वारा इस लोक का सद्भाव अन्वेषित है, (अन्यथा) यह संसार कूड़ा और बलिष्ठों का है।

धम्मो धम्मुत्ति जगंमि घोसए बहु विहेहिं रूवेहिं।
सो भे परिक्खियव्वो कणगव्व तिहिं परिक्खाहिं ॥४॥

जगत् में नाना प्रकार के रूप में "धर्म-धर्म" (यह धर्म यह धर्म) इस प्रकार (लोग) चिल्लाते है। (किन्तु) सोने की तरह उसकी परीक्षा तीन प्रकार (कष, छेद और ताप-) से करनी चाहिए।

न य तस्स लक्खणं पंडरं च नीलं च लोहियं वावि।
एक्कोसि नवरि भेओ जमहिंसा सव्व जीवेसु ॥५॥

उसका लक्षण पीला, नीला, लाल आदि नहीं है पर केवल एक ही भेद (रहस्य) है और वह है सर्व प्राणियों के प्रति अहिंसा-दया।

रुद्दंति सुंदरं चिय सव्वो घोसेइ अप्पणोपणियं।
केइएण वि घित्तव्वं सुंदर सुपरिक्खिउं काउं ॥६॥

जैसे सभी (दुकानदार) अपने माल को सुन्दर कहते पाये जाते हैं, वैसे सभी धर्मवाले अपने धर्म को सुन्दर बताते हैं परन्तु केता-खरीददार को उसकी अच्छी तरह परीक्षा करके उसे ग्रहण करना चाहिए।

नि(?ने)च्छंति विक्किणंता मंगुलं पणियं पि मंगुलं वुत्तं।
सव्वे सुंदर रागं उच्चय रागं च घोसंति ॥७॥

कोई भी विक्रेता (दुकानदार) अपने खराब माल को खराब नहीं बताना चाहते सभी उच्च स्वर से उसकी सुन्दरता (अच्छाई की राग आलापते हैं।

तो मे भणामि सव्वे न उ घोसण विम्हिएहिं होयव्वं।
धम्मो परिक्खियव्वो तिगरण सुद्धो अहिंसा ए ॥८॥

तब मैं सब को कहूँगा कि ऐसी घोषणाओं से
चाहिए और त्रिकरण शुद्ध अहिंसा से धर्म की

हेरन्निओ हिरन्नं थाहि विज्जोमणिं च मणियारो।
धाउं च धाउवाई जाणइ धम्मट्ठिउ धम्मं ॥६॥

सौवर्णिक सोने को, मणिकार मणि को और धातुवादी धातु को जैसे पहचानता है वैसे ही धर्मस्थित-धर्मात्मा व्यक्ति धर्म को जानता है।

धम्मं जणो वि मग्गइ मग्गंतो वि य न जाणइ विसुद्धिं।
धम्मो जिणेहिं भणिओ जत्थ दया सव्व जीवाणं ॥१०॥

जनता धर्म को ढूंढती है, परन्तु ढूंढती हुई भी वह उसकी विशुद्धि (शुद्धता) को नहीं पहिचानती, जहाँ सर्व जीवों के प्रति दया है (उसे ही) जिनेश्वर देवों ने धर्म कहा है।

जह नयरं गंतुमणो कोइ भीमाडविं पविसिज्जा।
पंथं समासग्गाही अपरिक्खिय पंथ सब्भावो ॥११॥

जिसे सुमार्ग के सद्भाव की जानकारी नहीं हो, वह संक्षिप्त सुगम मार्ग लेकर दूसरे नगर में जाने के लिए रवाने होता है, किन्तु भयंकर अटवी में प्रविष्ट हो जाता है। वैसे ही जिसने सद्धर्म मार्ग की परीक्षा नहीं की है वह भी (मोहक व सरल लगनेवाले) अपरिचित मार्ग पर चल जाता है।

पंथ सरिसा कुपंथो बहुं च कणय सरिसं नय सुवन्नं।
धम्मं सरिसो अहम्मो नायव्वो बुद्धिमंतेहिं ॥१२॥

बुद्धिमानों को यह जान लेना चाहिए, पथ के समान जैसे कुपथ दिखता है, वैसे ही धर्म के समान अधर्म दिखता है, परन्तु सोने की तरह चमकने वाला सभी सोना नहीं होता।

जाइवि अप्पमाणा कुलं ववएसो विसुद्धओ डिंभो।
पंडिच्चंपि पलालं सीलेण विसंठ्ठयंतस्स ॥१८॥

जो शील पर सम्यक् प्रकार से चलता है उसे अपनी विशुद्धता के लिये जाति भी अप्रमाण है, कुल का व्यपदेश (कथन) भी दंभ (बालिशता) है और पाण्डित्य भी पराल (घास) है।

वेया वागरणं वा भारह रामायणं पुराणाइं।
जइ पढइ जीववहओ दुग्गइ गमणं फुडं तस्स ॥१६॥

जो वेद, व्याकरण, महाभारत, रामायण और पुराण पढता है, किन्तु जीववध करता है तो (वे उसके सुगति के कारण नहीं बन सकते बल्कि) उसका दुर्गति गमन स्पष्ट है।

किं ताए पढियाए पय कोडीए पलाल भूयाए।
जत्थित्तियं न नायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥२०॥

उन करोड़ों पदों को पढने से भी क्या हुआ? सब तृणवत् है, जहाँ इतना भी नहीं जाना कि पराये को पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए।

च्छंद सर सद्द जुत्तेवि पवयणे सक्क(य)अक्खर विचित्ते।
धम्मो जेहिं न नाओ नवरि तुसा खंडिया तेहिं ॥२१॥

संस्कृताक्षरों से विचित्र छटादार एवं छंद, स्वर, शब्द आदि से युक्त प्रवचन करने पर भी जिन्होंने धर्म को नहीं जाना, उन्होंने केवल भूसा ही कूटा है।

सम विसमंपि पढंता विरया पावेसु सुगइं जंति।
सुट्ठवि सक्कय पाढा दुस्सीला दुग्गइं जंति ॥२२॥

भागों से विरत क्योंकि सम-विषम (उल्टा सीधा) भी पढ़ते हैं तो भी वे सुगति प्राप्त कर लेते हैं किन्तु सम्यक् प्रकार से संस्कृत पाठ करने वाले भी यदि दुःशील हैं तो वे दुर्गति में जाते हैं।

बंभाणस्स हरस्स य अन्नस्स व जीवघायण रयस्स।
अवसस्स नरय पडणं सह से सव्वं जगं पडखे ॥२३॥

जीवहत्या में रत मनुष्य का अवश्य ही नरकपतन होगा। चाहे ब्रह्मा, विष्णु या और कोई अन्य अथवा सारा जगत ही उसके पक्ष में क्यों न हो।

बाहत्तरि कल कुसला पंडिय पुरिसा अपंडिया चेव।
सव्व कलाणं पवरं जे धम्म कलं न याणंति ॥२४॥

बहत्तर कलाओं में कुशल पंडित पुरुष भी यदि सर्व कलाओं में श्रेष्ठ धर्म कला नहीं जानते तो वे अपण्डित हैं।

संजम कला तव कला विन्नाणकला विणिच्छिय कला य।
जस्सेसा नत्थि कला सो विकलो जीव लोगम्मि ॥२५॥

संयम कला, तपकला, (भेद) विज्ञानकला और विनिश्चय कला जिसमें नहीं है, लोक में वह जीव कलावान नहीं पर विकल है।

पढइ नडो वेरग्गं निव्विज्जिज्जा बहुओ जणे जेन।
पढिऊण तं तह सढो जालेण जालं समोत्थरइ ॥२६॥

नट भी वैराग्य पाठ करता है और उस निमित्त से बहुतेरे निवृत्ति प्राप्त करते हैं। पर वह शठ तो पढ करके भी एक और दूसरा जाल (प्रपंच, भव परम्परा) ही बढ़ाता है।

एयं नह पंडियं भद्द चरित्तं न ...
लोयं च पन्नवेइ गईय से पाविया ...

ऐसा-नट-पाण्डित्य और भ्रष्ट चारित्र्य कभी सद्‌गति नहीं ले जाता। लोक उससे बोध भले ही पा जाँय पर उसकी गति तो पापिका ही होती है।

तिन्निसया तेसठ्ठा पासंडीणं परुप्पर विरुद्धा।
नय दूसंति अहिंसंतं गिन्हह जत्थ सा सयला ॥२८॥

अहिंसा का आचरण करने वाले को परस्पर विरुद्ध ३६३ पाखण्डियों के मत भी दूषित नहीं करते। इसलिए जो सकल (पूर्ण) अहिंसा है वही ग्रहण करो।

जह उडुयइंमि उइए सयल समत्थंमि पुन्निमा होइ।
तह धम्मो वि दयाए होइ समत्थो समत्ता य ॥२९॥

जैसे तारागणों के उदित होने पर भी सर्व समर्थ तो (पूर्ण चन्द्र वाली) पूर्णिमा ही होती है। उसी प्रकार धर्म भी समस्त (सम्पूर्ण) दया के होने पर ही समर्थ होता है।

जो गिन्हइ कायमणी वेरुलिय मणित्ति नाम काऊण।
सो पच्छा परितप्पइ जाणग जणो विउसंतो ॥३०॥

जो वैडूर्यमणि के नाम से (बहाने) काचमणि को ग्रहण कर लेता है, परन्तु जानकार व्यक्ति से (स्वरूप) जान लेने पर वह बाद में पछताता है।

न जलं न जडा न मुंडणं नेव य वक्कल चीवराणि वा।
नरस्स पावाइं विसोहयंति जहा दया थावर जंगमेसु।

मनुष्य के पाप न तो जल ही शुद्ध कर सकता है, न जटाएं, न मुण्डन और न वल्कल वस्त्र ही शुद्ध कर सकते हैं जैसे कि स्थावर और त्रस प्राणियों पर दया (पाप विशुद्धि) कर सकती है।

जइ वहसि भर सहस्सं समिहाणं चेय मंत जुत्ताणं।
जीवेसु वि नत्थि दया सव्वंपि निरत्थियं तस्स ।।३७।।

यदि हजार भार समिधा-इन्धन भी मंत्रयुक्त आहुति देकर जलाता है, पर प्राणियों पर दया नहीं है तो उसका सभी निरर्थक है।

कोहस्सय माणस्स य माया लोभस्स निग्गहो नत्थि।
किं काहिंति जड़ाओ तिदंड मुंडं च छागे वा ।।३८।।

जहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ-कषायों का निग्रह नहीं वहाँ जटाएं, त्रिदंड, मुण्डन या मृगचर्म क्या करेंगे।

जइ वहसि केस भारं च्छारं खोरं च चीवरं दोरं।
नय वहसि सील भारं वहसिय भारं अणत्थाणं ।।३९।।

यदि जटा-केशों का, राख (क्षार) उस्तरा (क्षुर) कषायवस्त्र (चीवर) और डोरी (यज्ञोपवीत) का भार ढोते हो, किन्तु शील का भार वहन नहीं करते तो केवल अनर्थों का ही भार वहन करते हो।

कुव्वे णउरं पट्टं पिट्ठी घट्टा जडाकलावेण।
पासं च कुंडियाए तहावि नो जाणिओ धम्मो ।।४०।।

केवल पट्ट, पीठ और घड़े जैसी जटाजूट करके पास में कमंडलु रखने पर भी धर्म नहीं जाना तो (क्या सिद्धि किया!)

कुव्वय तिदंडधारी निलज्जो अहिय वहु चुकारो।
तव नियमेसु असारो हिंडइ पच्चक्खओ गोणो ।।४१।।

कुव्रती, त्रिदण्डधारी, निर्लज्ज, अहित और अत्यन्त भ्रष्ट, सारहीन तप नियमादि में प्रवृत्त प्रत्यक्ष बैल की तरह भटकता है।

तिन्नेय वहसि दंडे सगडं वा वहसि वेणु दंडाण।

रसस्स नत्थि मुक्खो सद्द फरिस रस रूप गंधेसु ॥४२॥

त्रिदण्ड वहन करते हो, यदि गाड़ी भर वेणु दंड (बांस के दण्ड) वहन करोगे, पर शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध में आसक्त रहोगे तो तुम्हारा मोक्ष नहीं होगा।

नर सिर कवाल माला न तिदंडं कुंडिया जडा मउडो।

नवि छारो नवि दोरो सारो धम्मस्स जीवदया ॥४३॥

नरमुण्ड, खप्पर, त्रिदण्ड, कुंडी (कमंडलु) जटामुकुट राख या डोरी (यज्ञोपवीत) में कोई (धर्म का) सार नहीं, जीवदया ही धर्म का सार है।

नय धम्मंमि पमाणं नग्गो मुंडी जडी य कुची या।

नय नव खंड सुसोविय चीवर धरणं दया धम्मो ॥४४॥

धर्म के लिए न तो नग्न, मुंडित, जटाधारी, दाढ़ीधारी ही प्रमाणभूत है, और न नौ टुकड़े सी कर बनाये हुए चीवर (चिथड़े-कथा) का धारण करना ही प्रमाण है। असली धर्म (का प्रमाण) तो दया है।

सोहइ आहियग्गी समणो वा तावसो य सा चेव।

विसया जस्स वसम्मी विसयाणं जो वसे नत्थि ॥४५॥

श्रमण हो चाहे तापस हो आहिताग्निसे वही सुशोभित होता जो विषयों के वशवर्ती नहीं, पर विषय जिसके वशवर्ती हैं।

गंगाए जउणाए उब्बुड्डा पुक्करे पहासे वा।

पुरिसा न हुंति चुक्खा जेसिं न चुक्खाइं कम्माइं ॥४६॥

जिनके कर्म (कार्य) पवित्र नहीं है वे पुरुष गंगा, जमुना, पुष्करराज या प्रभास (पट्टन) तीर्थ में डुबकी लगाने से पवित्र नहीं होते।

चंडाला सोयरिया केवट्टा मच्छ बंधया पावा ।
तित्थ सएसु वि न्हाया नवि ते उदएण सुज्झंति ॥४७॥

जो चाण्डाल, सौकरिक (कसाई), केवट, मच्छीमार आदि पापी हैं वे सैकड़ों तीर्थों में नहाने पर भी पानी से शुद्ध (पवित्र) नहीं होते।

पड मइल पंक मइला धूलीमइला न ते नरा मइला।
जे पाव कम्म मइला ते मइला जीव लोगम्मि ॥४८॥

जिनके कपड़े मैले हैं, जो कीचड़ से मैले हैं या धूल से मैले हैं वे वास्तव में मैले नहीं है इस जीव लोकमें मैले तो वे हैं, जो पाप कर्मसे मलिन हैं।

सुचिरंपि धोयमाणो बाहिरओ सु बहुएण उदएण।
नवि सुज्झंति मणुस्सा अंतो भरिया अमिज्झस्स ॥४९॥

चिरकाल तक बाहर से बहुत से पानी द्वारा धोने पर भी अंतर के पाप (मैलसे) भरे मनुष्य शुद्ध नहीं होते।

जहा कालो इंगालो दुद्धधोओ न पंडुरो होई।
तह पाव कम्म मइला उदएण न निम्मला हुंति ॥५०॥

जैसे काला कोयला दूध से धोने पर भी उज्ज्वल नहीं होता, वैसे ही पाप कर्म से मलिन व्यक्ति कभी पानी से निर्मल नहीं होते।

सच्चं सोयं तवं सोयं सोयमिंदिय निग्गहो।
सव्व भूय दया सोयं जल सोयं च पंचमं ॥५१॥

सत्य शुचि है, तप शुचि है, इन्द्रिय निग्रह शुचि सर्व प्राणियों पर दया शुचि है और पांचवी शुद्धि जल की है।

एयं पंचविहं सोयं पंचिंदिय विसोहणं।
जेसिं न विज्जए देहे ते मूढा सोय वज्जिया ॥५२॥

ये पांच प्रकार की शुचि पंचेन्द्रिय विशुद्धिकारक है। जिनके देह में ये नहीं, वे मूढ़ शुचि रहित हैं।

स ण्हाणत्ति तणु सोही[1] करेइ अवणेई बाहिरं पंकं।
ए ए उदयस्स गुणा नहु उदयं सुगइं नेइ ॥५३॥

जल नहाने से देह शुद्धि होती है, बाह्य मैल साफ होता है। यह जल का गुण है, पर जल सद्‌गति में नहीं ले जाता।

सच्चेण संजमेण य तवेण नियमेण बंभचेरेण।
सुद्धो मायंग रिसि नय सुद्धो तित्थ जत्ताहि ॥५४॥

सत्य, संयम, तप, नियम और ब्रह्मचर्य द्वारा मातंग—चाण्डाल, भंगी भी शुद्ध है। सिर्फ तीर्थ यात्राओं से कोई शुद्ध नहीं होता।

तित्थं जणो वि भमइ तित्थस्स विनिच्छियं अयाणंतो।
तित्थं जिणेहि भणियं जत्थ दया सव्व जीवाणं ॥५५॥

तीर्थ के विनिश्चय (रहस्य) को नहीं जानने वाला मनुष्य तीर्थ की तलाश में भटकता है। (परन्तु) जिनदेवों ने जहाँ सर्व जीवों के प्रति दया है उसे ही तीर्थ कहा है।

नाणोदय पड़िहच्छं धिइ पालीयं चरित्त सोवाणं।
अप्पा जेसि न तित्थं तित्थं खु निरत्थयं तेसिं ॥५६॥

जिनकी आत्मा ने ज्ञान की उन्नति को ठुकराया और चारित्र सोपान का पालन न किया, वह तीर्थ नहीं उनके लिए तीर्थ भी निरर्थक है।

किं निग्गुणस्स तित्थं काही हिंसालिए पवत्तस्स।
परधण परदार रयस्स लोह मोहाभिभूयस्स ॥५७॥

१—[illegible]

हिंसा और झूठ में प्रवृत्त, परस्त्री और पराये धन में अनुरक्त एवं लोभ व मोह से अभिभूत दुर्गुणी के लिए तीर्थ भी क्या करेंगे !

जीवे न हणइ अलियं न जंपए चोरियं पि न करेइ।
परदारं पि न वचइ घरेवि गंगा दहो तस्स ॥५८॥

जो जीवघात नहीं करता, मिथ्या नहीं बोलता, चोरी नहीं करता और परस्त्री गमन भी नहीं करता उसके घर में ही गंगा कुंड है।

जीवे हिंसइ अलियं पि जंपए चोरियं पि य करेइ।
परदारं चिय गच्छइ गंगावि परम्मुहा तस्स ॥५९॥

जो जीव हिंसा करता है, झूठ बोलता है और परस्त्री गमन करता है उसके लिए गंगा भी पराङ्मुख है।

एगट्ठाणंमि ठिओ अहिसेयं कुणइ सव्व तित्थेसु।
जो इंदिए निरंभइ अहिंसओ सच्चवाई य ॥६०॥

जो इन्द्रिय निग्रह करता है, अहिंसक और सत्यवादी है वह एक स्थान में—घर में—रहा हुआ भी सर्व तीर्थों में अभिषेक करता है।

वास सहस्संपि जले उव्बुड्डं निव्बुड्डणं जइ करेइ।
जीय वहओ न सुज्झइ सव्वेणवि सायर जलेण ॥६१॥

जीव वध करने वाला यदि हजार वर्ष पर्यन्त जलमें डुबकियाँ लगाता रहे पर उसकी समूचे समुद्र के जल से भी शुद्ध नहीं होती।

मच्छाय कच्छपा चिय गाहा मयराय सुंसमाराय।
हिंडिज्ज विमाण गया जइ उदयं सुगइं नेइ ॥६२॥

यदि पानी सुगति में ले जाने वाला होता तो मछलियाँ, कछुए, ग्राह (घड़ियाल), मगरमच्छ एवं सुसमार (जलजन्तु) कभी के वैमानिक देव लोक में चले गये होते।

जल मज्जणेण, अंगं फुट्टं हुहाय आयमंतस्स।
नय कोइ गुणो पत्तो सीएण य मारिओ थप्पा ॥[illegible]॥

जल मज्जन करते करते शरीर फट गया और आचमनों के ढेर [illegible] पर कोई गुण प्राप्त नहीं हुआ, व्यर्थ ही खुद को ठंड में मारा।

जइ मट्टियाए सम्मो उदएणं मोलियाइं सी [illegible]।
मन्नामि कुंभकारा सपुत्त दारा गया सग्गं ॥[illegible]॥

यदि पानी के साथ मिली हुई मिट्टी (शरीर पर पोतने) से ही स्वर्ग [illegible] जाता तो मैं समझता हूँ, कुम्मार स्त्री पुत्र सहित (कभी के स्वर्ग [illegible] [illegible]ये होते।

जइ धुणइ देवयाओ लोए हिंडइय सव्व तित्थाइं
जीवेसु वि नत्थि दया सव्वं पि निरत्थयं तस्स ॥[illegible]॥

जो लोक में सर्व तीर्थों में घूमता है, देवताओं की स्तुति [illegible], [illegible] उसके हृदय में यदि जीवों के प्रति दयाभाव नहीं है तो उसके [illegible] निरर्थक है

तप्पउ य उद्धबाहु होऊ सेवाल-मूल-फल-[illegible]।
कंटय पह सयणं वा करेउ पंचग्गि [illegible]।
धरउ य वयाइं नाणा विहाइं हिंडउय सव्व तित्थाइं।
वेसं च कुणउ किंची सीलेण विणा न [illegible] ॥[illegible]॥

[illegible] ऊर्ध्वबाहु करके तप करो या सेवाल, फल, मूल का [illegible] कर। [illegible] कंटक पथ पर शयन करो या पचाग्नि ताप तपो। [illegible] [illegible] करो व सर्व तीर्थाटन करो एवं कैसा भी वेष [illegible] [illegible] के बिना उस से कुछ भी नहीं।

मोणं या आसेवउ आसम-वासं अरन्न-वासं वा।
हिययं जस्स न सुद्धं सव्वमसुद्धं[1] परिकिलेसं ॥६८॥

मौन रहो, आश्रमवास करो या अरण्यवास करो, जिसका हृदय शुद्ध नहीं है, उनके लिए ये सब्वे अशुद्ध (खाइयसुद्ध) सभी अशुद्ध और क्लेश कर है।

वज्जइय चीवराइं जइ हिंडइ नग्ग वेस भावेणं।
जीवेसु य नत्थि दया सव्वंपि निरत्थयं तस्स ।६६।

जो वस्त्रादि का त्याग कर नग्न भाव में घूमते हैं पर जीवों के प्रति जिनके दया नहीं उसके लिए सब कुछ निरर्थक है।

तव नियम दिक्खियाणं पंचिंदिय अग्गिहुत्त ठवियाणं।
जीवदय जन्नियाणं दिन्नंपि महाफलं तेसिं ॥७०॥

पचेन्द्रिय रूपी अग्निहोत्र स्थापक, तपनियम में दीक्षित और जीवदया के याज्ञिक हैं, उन्हें दान देने से भी महाफल होता है।

सच्चं च जस्सकुंडं तवो य अग्गी मणं च समिहाओ।
इंदिय गामा य पसू सयायणे दिक्खिओ होइ ॥७१॥

जिसके सत्य ही यज्ञकुण्ड है, तपरूपी अग्नि और मन रूपी काष्ठ-समिधा है, और इन्द्रिय समूह ही पशु, है शाश्वत दीक्षित वही होता है।

धम्मा धणे महल्ले पमारिए सव्व वणिय पासंडे।
सुपरिक्खिऊण गिन्हह रयणं वंचिज्जए लोओ ॥७२॥

१—"खाइय सुद्ध" पाठ मूल प्रति में है।

महान् विस्तृत धर्मोद्यान में सभी प्रकार के पाखंड (मत) वर्णित हैं (सार्वे धार्मिक मत फैले हुए हैं) अच्छी तरह परीक्षा करके ग्रहण करो क्योंकि यहीं पर लोग ठगे जाते हैं।

जेसिं पव्वइयाणं धणं च धन्नं च जाण जुग्गं च।
कय विक्कएण वट्टइ सो पासंडो न पासंडीओ ॥७३॥

जिन प्रव्रजितों के धन धान्य यान व (अश्व बैलादि) जोड़ी है, खरीदने बेचने में लगे रहते हैं, वे पाखण्डी (दम्भी) हैं, व्रतधारी नहीं।

धम्मलिंगं च से हत्थे ववहारोय वट्टइ।
का एसा नाम पवज्जा नेय आडी न कुक्कुडो ॥७४॥

जिसके हाथ में (साधु-) धर्म के चिन्ह (रजोहरणादि) है, वह अगर व्यापारादि में प्रवृत्त होता है तो ऐसी नाम की प्रव्रज्या से क्या? न तो वह आडी है न मुर्गा।

आडीए मयणमत्ता ए रामिओ वण कुक्कुडो।
तेण सपिइओ जाओ न च आडी न कुक्कुडो ॥७५॥

कामोन्मत्त आडी ने वन में मुर्गे के साथ रमन किया। इससे जो पैदा हुआ यह आडी है न मुर्गा है।

सो चेव य घरवासो नवरिं परियत्तिओ केवलो वेसो।
किं परियत्तिय वेसं विसं न मारेइ खज्जंतं ॥७६॥

अगर वह (प्रव्रजित) गृहवास करता है तो उसने केवल वेष ही बदला है। (यदि उसने दुःशील नहीं छोड़ा तो) केवल वेष बदलने से क्या हुआ क्या जहर खाने से नहीं मारेगा?

सव्वो भणइ च देसे मज्झ कुलं उत्तमं च धिउलं च।
कह से पत्तिययव्वं सीलेण विसंवयंतस्स ॥७७॥

देश में सभी लोग कहते हैं कि मेरा कुल उत्तम और विपुल है (परन्तु) शील से विपरीत मार्ग पर चलने वाले उस व्यक्ति के (उत्तम व विपुल कुल की) प्रतीति कैसे हो?

सव्वाओवि नईओ कमेण जह सायरम्मि तिवडंति।
तह भगवई अहिंसा सव्वे धम्मा (समज्जंति) ॥७८॥

सभी नदियाँ क्रमशः समुद्र में जाकर गिरती हैं, उसी प्रकार भगवती अहिंसा में सभी धर्म समा जाते हैं।

तो भे भणामि सव्वे जायंति समागया मम सुणेह!
चरह परलोग हियर्य अहिंसा लक्खणं धम्मं ॥७९॥

तो जितने लोग मेरे समागम मे आए उन सबसे कहता हूँ, सुनो। पर लोक के लिये हितकर अहिंसा लक्षण वाले धर्म का आचरण करो।

तो अरय विरय विमले सयं पहे देव दुंदुहि निनाए।
सग्गंमि चिरं वसिहह सुचरियं चरणाचरिह धम्मं ॥८०॥

तो रज रहित-विरत निर्मल सत्य पथ में सच्चरित्र संयम-धर्म का आच रण कर देव दुदुभि निनाद से चिरकाल तक स्वर्ग में वास करो।

नाणंकुसेण रुंधह मण हत्थिं उप्पहेण वच्चंतं।
मा उप्पह पडिवन्नो सीलारामं विणासिज्जा ।८१।

ज्ञानरूपी अंकुश द्वारा मन रूपी हाथी को उन्मार्ग में जाने से रोको अन्यथा यह उत्पथ गामी होकर शील रूपी उद्यान को नष्ट न कर डाले।

॥ इति नाना विनक प्रकरण समाप्त ॥

बालावबोध प्रकरण

पणमवि जिणवइ देउ गुरु, अनु सरसइ सुमरेवि।
धम्मुवएसु पयंपियइ, सुणि अवहाणु करेवि ॥१॥

जिनेश्वर देव और जिनदत्तसूरि गुरु को प्रणाम करके और फिर सरस्वती का स्मरण करके धर्म का उपदेश कहा जाता है, सावधान होकर सुनो।

दुलहउ माणुस जम्म लहि, जे नवि धम्मु करंति।
ते असरण दुह-सय-कलिय, चिरु संसारि भमंति ॥२॥

दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर जो धर्म नहीं करते वे शरण से रहित तथा सैकड़ों दुःखों से युक्त होकर चिरकाल तक संसार में भटकते हैं (मोक्ष प्राप्त नहीं करते)।

जुव्वणि मुंजउँ विसय-सुहु, वुड्ढउ धम्मु करेसु।
एहउँ बाल पयंपियउ, मा वि (स) वि धरेसु ॥३॥

यौवनकाल में विषयों के सुख को भोग लूं, वृद्ध होने पर धर्म करूंगा—ऐसे बाल जीवों (अज्ञानियों के) के वचन को कभी चित्त में मत धरो।

वायाहय-धयवड़ समउ, जीविउ चंचलु जेण।
बालत्तणि वि विवेइ जण, धम्मि पयट्टहि तेण ॥४॥

क्योंकि जीवन पवन से आन्दोलित ध्वजा के पट के समान चंचल है इसलिये विवेकी पुरुष बचपन में ही धर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

इह जुव्वण अविवेय - घरु, सव्व - अणत्थ - निहाणु।
पढ्ण जो न विडंबियउ, सो पर सुयणि पहाणु ॥५॥

यह यौवन अविवेक का घर और सब अनर्थों का निधान (स्थान) है। इसके द्वारा जिसकी दुर्दशा नहीं हुई, केवल वही संसार में प्रधान है।

जाव न पीडइ देहु जर, जाव न वाहहिं वाहि।
जा इंदिय सुत्थत्तणउँ, ता सद्धम्मु पसाहि ॥६॥

जब तक जरा देह को पीड़ित नहीं करती, जब तक व्याधियाँ उसे व्याधित नहीं करती और जब तक इन्द्रियों की स्वस्थता है तब तक सद्धर्म का साधन करो।

पिय-जणु जुव्वणु धणु सयणु, सयलु वि लोइ असारु।
नरइ पडंतह पावियह, नवि केणइ साहारु ॥७॥

प्रिय-जन, यौवन, धन, स्वजन सभी इस लोक में सार-रहित हैं। नरक में गिरते हुए पापी मनुष्य को किसी से सहारा नहीं मिलता।

घर-वावारि वि मोहियहँ, सयलु समप्पइ जम्मु।
खणु वि न पावहिं पावयर, जित्थु प साहहि धम्मु ॥८॥

मुग्ध प्राणी गृह-व्यापार में सारा जन्म समर्पण कर देता है पर उस पापी को एक भी ऐसा क्षण नहीं मिलता जिसमें वह धर्म की साधना कर सके।

थेवउ आउ सुतुच्छु सुहु, पय पय आवय-ठाण।
दुक्कड-फलु अइ कडुयर, सधम्मु करेसु सुजाण ॥९॥

आयु थोड़ी है, सुख अत्यन्त तुच्छ है, पग पग पर आपत्तियों के स्थान हैं। दुष्कर्मों का फल अत्यन्त कड़वा होता है। हे सुजान! इसलिये धर्म करो।

जिणि निज्जिय राणइ रिउ, जो इंदिहिं कय सेवु।
निम्मलु नाणु पईवु जसु, सो पणमिज्जइ देवु ॥१०॥

जिसने रणक्षेत्र में भाव-शत्रुओं को जीत लिया, जिसकी इन्द्र सेवा करते हैं, जिसके निर्मल ज्ञान रूपी दीपक है उस देव को प्रणाम करो।

पंच महाव्रती गुरु

पंच महव्वय-भूसियउ, परिपूरिउ सुगुणेहिं।
उवसम-निहि सुय-नीरनिहि, गुरु लब्भइ पुन्नेहिं ॥११॥

पाँच महाव्रतों से भूषित, सद्गुणों से परिपूर्ण, उपशम के निधान और श्रुतज्ञान रूपी जल के समुद्र ऐसे गुरु पुण्यों से मिलते हैं।

सव्व जिएसु वि दय करहिं, एस सधम्मह मूलु।
पय विहूणउ तवु जवु वि, सव्वु वि भय-अणुकूलु ॥१२॥

सब जीवों पर दया करते हैं—यह सद्धर्म का मूल है। इसके बिना जप और तप सभी भव के अनुकूल हैं—संसार सागर में भ्रमण कराने वाले हैं।

मृषावाद त्याग

अलियउँ वयणु न भासियइ, दोस सहस्स-निवासु।
जेण हणिज्जइ सुह-निलउ, सव्वत्थ वि वीसासु ॥१३॥

असत्य वचन नहीं बोलना चाहिये जो हजारों बुराइयों का घर है, जिससे सुख का घर विश्वास सर्वथा नष्ट हो जाता है।

चोरी

इह-पर-लोइ विडंवणहँ, विवि जइ जइ वीहेहि।
ता कइयवि पर-धण-हरणि, मं जिय मणु विविहेहि ॥१४॥

इस लोक और परलोक में यदि विडम्बना होने से डरते हो तो हे जीव! पराये धन के हरण में कभी भी मन को मत लगाओ।

परस्त्री गमन

जइ उप्पा (? ग्घा) डण कुड्डियउ, पुणु पुणु दुग्गइ दारु।
ता पइ-दिणु सच्छंद-मइ, जिय अहिलसु पर-दारु॥ १५ ॥

यदि बारंबार दुर्गति के द्वार को खोलने का शौक (कोड) है तो हे जीव! प्रतिदिन स्वच्छन्दतया परस्त्री की अभिलाषा करो।

परिग्रह परिमाण

जइ सोक्खिवन्नुहि निव्विन्नु सुहु, जइ संसारि फज्जु।
ता परिगहि अ पमाणि जि।य , सुइरु निरंतर रज्जु ॥१६॥

यदि तुम्हें (आत्मिक) सुख से निवृत्ति और संसार-भ्रमण से ही काम है, तो हे जीव! अपरिमित (विना परिमाण किये) परिग्रह में चिरकाल अनुराग करो।

रात्रिभोजन

राई-भोयणु परिहरहु, निय-मणि नियमु धरेहु।
जेण उवज्जिय सयल गुण, सिव-दिव-लच्छि वरेहु ॥ १७ ॥

रात्रि भोजन को छोड़ दो, अपने मन में नियम धारण कर लो, जिससे

कि सब गुणों को उपार्जित कर मोक्ष रूपी दिव्य लक्ष्मी का वरण कर सकें।

रत्तिहिं हिंडहिं रयणियर, भुक्खिय रंक-समाण।
तहिं उबिट्ठई ते जिम्महिं, जे निसि जिम्महिं अयाण ॥ १८ ॥

रात में भूखे रजनीचर (राक्षस) रंकों के समान फिरते हैं, जो अज्ञानी रात में भोजन करते हैं वे उनका जूठा भोजन करते हैं।

मेह पिपीलिय उवहणइ, मच्छिय वम्मणु करेइ।
जूयलीय स्संजणइ, कोलिउ कोढु वि होइ ॥ १९ ॥

(भोजन में) चींटियाँ खाने से बुद्धि-मेधा का नाश होता है, मक्खी वमन करा देती है, जुओं के भक्षण से जलोदर हो जाता है और कोलिक से कोढ़ भी हो जाता है।

लग्गिइ गलियइ दुक्खयरु, कंटउ दारुण दारु।
मक्खिउ वालु वि तक्खणिण, सरु भंजइ अइचारु ॥ २० ॥

गले में काँटा या लकड़ी लग जाने से अधिकतर कष्ट देता है और केश-पाश खाने से तत्काल स्वरभंग (कण्ठ बैठना) हो जाता है।

भुंजिज्जंतउ वंजणिहिं, समु अलि विंछ [विछ] इ तालु।
निसिभोयणु बहुविहु हवइ, आमय जालु-करालु ॥ २१ ॥

भोजन करते हुए यदि व्यंजन-तरकारी के साथ बिच्छू आ जाय तो वह तालु बींध देता है। यों रात्रि का भोजन अनेक प्रकार से रोगों का भयंकर जाल है।

दिवसि वि जे अइ सुहुम जिय, अइ-जलिण दीसंति।
कुंथु पमिइ दीवाइ सुठि, ते निसि किम्व दीसंति ॥ २२ ॥

जो सूक्ष्म जीव दिन में भी बड़े यत्न से दिखायी पड़ते हैं वे कुंथु प्रभृति जीव दीपक का अच्छा प्रकाश होने पर भी रात्रि में कैसे दिखायी दे सकते हैं।

जइ किर केवल-नाणिणु वि, निसिभोयणु न करंति।
ता छउमत्थ पमायपर, किह दूरिण न मुयंति ॥ २३ ॥

जब कि केवलज्ञानधारी भी (जिनको जीवाजीव का प्रत्यक्ष ज्ञान है) रात्रि भोजन नहीं करते तो छद्मस्थ प्रमादी जीव पहले से क्यों नहीं छोड़ते ?

संसज्जहि आहार निसि, जिय तिण-सम रस वण्ण।
ते जाणंता किम गिलहि, जे नर सहिय सकण्ण ॥ २४ ॥

रात्रि के संसर्ग से आहार में उसी के सदृश वर्ण-रस वाले जीव उत्पन्न हो जाते हैं। यह जानते हुये वे पुरुष कैसे गले उतार सकते हैं, जिनके हृदय हैं और जिनके कान हैं।

जे रयणिहिं दियहि वि अवुह अच्छहिं आहरम [1] ण।
ते रक्खस धर-भार-यर अहवा पसु अ-विसाण ॥ २५ ॥

जो मूर्ख रात दिन (वे विवेक विना) भोजन करते ही रहते हैं वे पृथ्वी पर भार स्वरूप राक्षस हैं अथवा बिना सींगों के पशु हैं।

जे दिणु मिल्हिवि मूढ़-मइ, रयणिहिं परिभुंजंति।
ते कप्प-द्दुमु अवगणिवि, विस-विल्लिहिं रज्जंति ॥ २६ ॥

जो मूर्ख बुद्धि वाले दिन को छोड़ कर रात में भोजन करते हैं वे कल्प-वृक्ष का तिरस्कार करके विष की बेल से अनुराग करते हैं।

जे निसि-भोयणि रत्त करहिं, ते मय हुंति सियाल।
अहि विच्छिय गोहा नउल, घूयड़ काय बिडाल॥ २७॥

जो रात्रिभोजन से प्रेम करते हैं वे मर कर गीदड़ बनते हैं। अथवा साँप बिच्छु या गोधा या नकुल या उल्लु या काक या बिल्ली होते हैं।

निसि-भोयणि निरयहँ नरहँ, दुल्लह घरि मवि होइ।
सयणु असणु धणु कणु वसणु, जिह अंधह घर जोइ॥ २८॥

रात्रिभोजन में निरत मनुष्य को परभव में स्वजन, भोजन, धन-धान्य, वस्त्र दुर्लभ होते हैं, जैसे अन्धा उत्तम वस्तु को नहीं देख सकता।

दिणु अवहीरि विहावरिहिं, जे भुञ्जहिं।
ते संति वि पहलि अबुह, ऊसरि बीउ [illegible]॥ २९॥

दिन को छोड़कर जो रात्रि में धर्म मान कर भोजन करते हैं वे मूर्ख सकदर्म उपजाऊ भूमि होते हुए भी ऊसर में बीज बोते हैं।

जे विरमहिं निसि भोयणहँ, वंछिय सिव-पय-वास।
तह घन्नह सुविवेइयह, [illegible]॥ ३०॥

जो शिव-पद-वास की वांछा वाले (मोक्षाभिलाषी) हैं [illegible] रात्रिभोजन का त्याग करते हैं। वे सुविवेकी धन्य हैं [illegible] जन्म के [illegible] का फल प्राप्त करते हैं।

जं सव्वन्नुहिं वारियउ, [illegible]
जम्म-दुगिवि निसि-भोयणह, [illegible] परिहारु॥ ३१॥ [illegible]

जो शास्त्रों में अनेक प्रकार से सर्वज्ञों [illegible] है, उस [illegible] का त्याग करना दोनों जन्म के लिए [illegible]

जहिं परिचत्तउ निसि-असणु, जाणेविणु परमत्थु।
तह पर-अप्प सुहावहह, भवि भवि मंगल मत्थु॥ ३२॥
परमार्थ को जान कर जिन ने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया उन स्व पर सुखदायकों का भव भव में कल्याण हो।

मदिरापान

मज्जु विहोडइ मइ-विहवु जिव कंजिउ वर-खीरु।
तेण विहूणउ दुह लहइ, तो तं पियइ न धीरु॥ ३३॥
अच्छे दूध में कांजी पड़ जाने की भाँति मद्य, मति-वैभव को नाश कर देता है। उसके बिना दुख पाता है तो भी धीर पुरुष उसे नहीं पीता।

खण मित्तेण वि जो हरइ, जाया जणणि विहाउ।
भूरि विडंबण कुल भुवणु, सो कह होउ सुसाउ॥ ३४॥
स्त्री और माता के भेद विवेक को जो क्षण मात्र में ही हरण कर लेता है एव कुल और संसार में खूब विडम्बनादायक है वह मद्य कैसे सुस्वादु हो सकता है।

असमंजस चिट्ठिअ जणइ, मज्जु अणेय पयार।
जिहिं दिट्ठिहिं विसिट्ठयण, लज्जहिं नट्ठवियार॥ ३५॥
मद्य अनेक प्रकार की असमंजस-अनुचित चेष्टाओं का जनक है। जिसके प्रभाव से विशिष्ट पुरुष भी विचारहीन होकर लज्जित होते देखे जाते हैं।

खमु-दमु संजमु-तवु नियमु, विहलइ सयलु वि मज्जु।
मोहइ वियलइ इंदियइं, हालाहलु जिम्व सज्जु॥ ३६॥

मद्य से शम, दम, संयम, तप और नियम सभी गुण नष्ट हो जाते हैं और मोह से इन्द्रियाँ विकल हो जाती हैं जैसे हलाहल विष का मद प्रभाव हो।

मइरा मइ मोहिय मइहिं, जायव कुमर घरेहिं।
दीवायणु खलियारियउ, बहु दुव्वयण पहारेहिं ॥ ३७ ॥

श्रेष्ठ यादवकुमारों ने मदिरा के नशे में उन्मत्त होकर अनेक दुर्वचनों के प्रहार द्वारा द्वीपायन ऋषि को आचार से स्खलित कर दिया।

दे यी हुइण सकोवग्गिण, धण जण कणय समिद्ध।
तेण सदड्ढी बारवइ, तह लोयके वि पसिद्ध ॥ ३८ ॥

उसने क्रुद्ध होकर धन, जन और कनक से समृद्ध द्वारिका नगरी को दग्ध कर दी यह बात लोक में भी प्रसिद्ध है।

जो मज्जइ चुल्लउ वि पियइ, मच्छिअर अणुयहु जंतु।
भव सायर गंभीरि चिर, सो मज्जइ मज्झंतु ॥ ३९ ॥

मद्य का चुल्लू भर भी जो पीता है वह मोहित होकर डुबकुप खा कर चिरकाल तक गहरे भव-सागर में डूबा रहता है।

मांसाहार

दुग्गइ पहि थिर संबलउं, दीसंतउ बीभच्छु।
मायंगह अविसेसयरु, मंसु न खाइ जु सच्चु ॥ ४० ॥

जो सज्जन हैं वे दीखने में बीभत्स और दुर्गति-मार्ग के स्थिर पाथेय, चाण्डाल-धर्म के समरक्ष मांस को कभी नहीं खाते।

कंथा यत्तु जु वन्नियइ, सुर भोयह सम सव्वु।
मंसु जु भक्खइ नर निरिय, निग्घिण वाह नसच्चु ॥४१॥

देवताओं के भोग (बलि) आदि का जो कथाओं में यत्नपूर्वक वर्णन करते हैं वे, तथा जो पुरुष पशु-मांस का भक्षण करते हैं वे सब निर्दयी और अनार्यशील हैं।

जसु खाणया मंसु मइ, डाइणि जिम्व अइ किण्ह।
दिट्ठउ दिट्ठउ जीवडउ, मारेवा तसु इच्छ ॥ ४२ ॥

जिसकी मांस खाने में ही मति रहती है वह डायन की भाँति अत्यन्त दुखी है और जीवों को देख-देख कर उन्हें मारने की इच्छा करता है।

सव्वुवि जिउ सुक्खइ महइ, तइ कउ विण धम्मेण।
सो सव्वत्थ वियन्नियइ, सिज्झइ दय करणेण ॥ ४३ ॥

सारे जीव ही सुख चाहते हैं पर धर्म किये बिना वह कैसे प्राप्त होगा ! वह सब अर्थ विपन्न जन पर दया करने से सिद्ध हो जाता है।

जे रसणि [इं] दिय लंपडा, मंसासणि आसत्त।
ते हिंसक खलया सरिस, अइ दूरिण परिचत्त ॥ ४४ ॥

जो जिह्वा इन्द्रिय में लम्पट होकर मांस-भोजन में आसक्त होते हैं वे हिंसक प्रलयकारी के सदृश हैं, अत्यन्त दूर से ही उनका परित्याग करो।

भक्खन्ता इर वत्थ जण, सत्थ निबंधण दिट्ठ।
तिण संसत्त अणंत जिउ, मंसु न खाइ विसिट्ठ ॥ ४५ ॥

इतर वस्तु को खाते हुए भी मनुष्य शास्त्र मर्यादा देखता है तो अनंत जीवों से संसक्त मांस को विशिष्ट पुरुष खाता ही नहीं।

कह मन्नह इत्थि तणइं, तुज्झइ माइ पियाइं।
भिन्नउं भिन्नउं आयरणु, जुत्तउं होइ पियाइं ॥ ४६ ॥

स्त्रियों में भी माता और प्रिया को समान कैसे मानेंगे? (माता एवं) प्रिया के साथ भिन्न-भिन्न आचरण ही युक्त होता है।

तेण जु केइवि इउ भणहि, धन्नु वि पाणिहिं अंगु।
मंसु वि तंविव भक्खणिउं, एउ न जुत्तिहिं चंगु ॥४७॥

वैसे ही कई लोग यह कहते हैं कि धान्य भी प्राणियों का अंग है, उसी प्रकार से मांस भी भक्ष्य है, पर यह युक्ति उत्तम नहीं।

पाणंगुवि दुद्धाइ इह, भक्खियहिं इहउ भवस्सु।
लोहिय हड्डु प्पभिइ पुण,किण कारणिण अभक्खु ॥४८॥

प्राणी के अंग से प्राप्त दुग्ध आदि पदार्थ सब के लिए इस भक्ष्य हैं तो फिर लोहू और हड्डियां आदि किस कारण अभक्ष्य हैं?

बहुइ वि एगिंदियहं बहु न पलासण सम हइ।
घण कोडा कोडिवि जलहु, किं अवहरइ समुद्दु ॥४९॥

बहुत से (धान्यादि के) एकेन्द्रिय जीवों का वध होते हुए भी मांस भोजन के सदृश रौद्र परिणामी नहीं, कोटा कोटि मेघ भी क्या समुद्र से जल का अपहरण कर (खाली कर) सकते हैं?

जो काऊण वि झाणु तवु, मंसासणि मणु देइ।
सो गउ जिम्व मजेविलहु, तणु रेणुहिं गुंडेइ ॥५०॥

जो ध्यान व तप करके भी मांस भोजन की ओर मन लगाता है वह सांड की तरह स्नान कराने पर भी तुरन्त देह को धूल में आलोडित करता है।

सव्विहिं तित्थिहिं उत्तकय, सव्वइं दाणइं दिन्न।
जिण आजम्मु दि आयरिय, मंस निवित्ति पइन्न ॥५१॥

उसने सब तीर्थों की यात्रा कर ली, उसने सब दान दे दिये, जिसने आजन्म की आचरण मे मांस से निवृत्ति प्राप्त कर ली।

मक्खन

अन्तमुहुत्त परेण जहिं, सुहुमइ जीवहँ रासि।
सम्मुच्छहिं तं असिउ मण, छोणिउ भायरि पासि ॥५२॥

अन्तर्मुहूर्त मात्र में जहां सूक्ष्म जीवों की राशि सम्मूर्च्छित उत्पन्न होती है उस मक्खन को भक्षण करते हुए अपने को भव-पाश में मत डालो।

एगस्सवि जीवह वहणि, जायइ पाव बहुत्तु।
ता जिय पिंड सरूवु इहु, बुह भक्खणह अजुत्तु ॥५३॥

एक ही जीव की हत्या में बहुत पाप होता है तो जीवों के पिण्ड स्वरूप यह (मक्खन) बुधजनों के लिए भक्षण करना अयुक्त है।

एगह निय जीवह तणिण, जे जिय कोडि वहंति।
ताहं अणंता भव गहणि, जम्मण मरण हवंति ॥५४॥

एक अपने जीव के लिए जो करोड़ों जीवों का वध करते हैं, उन्हें जन्म-मरण कर अनन्त भव ग्रहण करने होते हैं।

जइ पञ्चउ जिणवर वयणि, तुहु जइ कज्जु सुहेहिं।
ता होइवि करुणा परमु, मा छोणिउ भक्खेहिं ॥५५॥

यदि तुम्हारा जिनेश्वर के वचनों में विश्वास है और यदि तुम्हें सुखों से सरोकार है तो करुणा-पर होकर मक्खन का भक्षण मत करो।

मधु

बहु जिय घण घा उब्भवउं, लाला जेम्व विलीणु।
किम भक्खइ मक्खिउ वि बहु सुस्सावउ सुकुलीणु ॥५६॥

दक्खा पाणय खद्दुएहिं, मच्छंडिय सुघएहिं।
एवं पाएहिं अन्नहि वि, किं मज्जाइहिं तेहिं ॥६१॥

सदे हुए द्राक्षगुच्छ, मिश्री, श्रेष्ठ घृतादि अन्य उत्तम पेय है फिर मद्यादि में क्या रखा है ?

अभक्ष्य—अनन्तकाय भक्षण

मिलि पिलुंखह पिप्पलह, कवुंबर फलाइं।
वड़ उंबर साहीण तह, किमि फलयल सवलाइं ॥६२॥

बड़, पीपल, गूलर, पिलखु व कालुम्बर (कचूमर) इन पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ दो जो निःसार हैं एवं उनमें बहुत-सी कृमियाँ किलबिलाती हैं।

छहिउ वि भक्खंतह अवरु, अरहन्नवि समयन्नु।
पंचुंबर संभव फलइं, कोइ न खाइ सयणु ॥६३॥

शास्त्रकों और अर्हन्तों ने खाना तो दूर रहा, जिन्हें स्पर्श करना भी बुरा बतलाया है उन पाँच उदुम्बरों से उत्पन्न फलों को कोई समझदार नहीं खाता।

बीहहिं जेणं तहु भवहु, सुमुणिय पवहण तत्त।
सव्व अणंत काइयइं ते भक्खइ न सुसत्त ॥६४॥

प्रवचन के तत्त्व को ज्ञात कर जो भव-भ्रमण से डरते हैं वे सत्शील पुरुष सभी प्रकार के अनन्तकायों का भक्षण नहीं करते।

मिस्सइ आमिण गोरसिण वियलइं मुयह सुदूरि।
जेण तहिं दिट्ठा केवलिहिं सुहुमा जिय अइचूरि ॥६५॥

द्विदल (दालवाले अन्न) को (कच्चे) गोरस (दूध-दही-छाछ के साथ मिलाकर (खाना) दूर से त्यागो, जिसमें कि केवली भगवान ने अनन्त सूक्ष्म जीव देखे हैं।

जं अन्नुवि फलु फुल्लु दलु मीसिउ जंतु सएहिं।
संधाणं संसत्तु तह धम्मिय दूरि मुएहि ॥६६॥

जो और भी सैकड़ों जन्तुओं से मिश्रित फल-फूल-दल हैं एवं अचारादि जो जीवादि संयुक्त हैं उनको हे धार्मिक ! दूर ही त्याग दो।

द्यूत-क्रीड़ा

जूय रमंतिहिं कुलु मइलिज्जइ।
मुच्चइ सच्चउं जणि लज्जिज्जइ॥
किज्जइ सोउ मुक्कउ भिज्जइ।
भवण दविणु सयलुवि हारिज्जइ॥६७॥

जूआ रमनेवालों का कुल मलिन होता है, सत्य से रहित होता है, लोगों में लज्जित होता है। शोक-चिन्ता करता है, [illegible] रगता है व भवन द्रव्य आदि सब हार जाता है।

दाणु न दिज्जइ भोग न मुंजहिं।
सुय पियय मपिय भाइ मुसिज्जहिं॥
देव गुरु वि तिण सम वि गणिज्जहिं।
जुत्ताजुत्तहिं नवि याणिज्जहिं॥६८॥

दान नहीं देता, भोग नहीं भोगता, प्रियजनों [illegible] प्रिय होकर स्वयं व शोषित होता है। देव और गुरु को [illegible] गिनता है। अनुचित को नहीं जान पाता।

अप्पणु कोउअइ वारवइज्जइ।
दुग्गइ सरलइ ए(प)हिं वंचिज्जइ॥
धिइ मइ कित्तिवि दूरि चइज्जहिं।
ता धम्मिय तहिं मा सज्जिज्झहिं॥६६॥

अपने कौतुक से (द्यूत व्यसनी व्यक्ति) दुर्गति के मार्ग को सरल कर ठगा जाता है, धृति, मति और कीर्ति को दूर ही त्याग देता है, तो हे धार्मिक! उसे मत करो।

वेश्यागमन

तासु न सच्चु न सोउ न संजमु।
सीलु न विज्ज न न इंदिय दमु॥
तिण अप्पउं कि विरु दुग्गइ छूढउ।
जा पण रमणि रमइ अइ मूढउ॥७०॥

तब तक न सत्य है न शौच, न संयम, न शील, न विद्या, न इन्द्रिय-दमन जब तक अपने को दुर्गति का स्पर्श करानेवाली वेश्या से वह अत्यन्त मूर्ख रमण करता है।

जा जालोय जिम्व गेहहु देहह।
देविणु रुहिरु आकड्ढइ बहुलहु॥
सुकुमारत्तणु पयडयि गुण गणु।
जीवहु सा किम्व रंजनु बुहमणु॥७१॥

जो जौंक की भाँति देह में चिपक कर शरीर का बहुत सा रुधिर खींच

लेती है। सुकुमारत्वादि गुण गणों को दिखा कर वह हत्यारिणी (वेश्या) कैसे समझदार पुरुषों का चित्त प्रसन्न कर सकती है?

आवय आठहिं जहिं आसत्तह।
पसरइ अजसु तिलोइ असत्तह॥
सव्वत्थ वि रइ गरह पयट्टइ।
तहिं वेसहिं किव रागु विसट्टइ॥७२॥

जिस में आसक्ति से आठों आपदाएँ आती हैं, आसक्ति से तीन लोक में अपयश फैलता है। (इस के कारण लोक) सर्वत्र निन्दा गर्हा में प्रवृत्त हो जाते हैं उस वेश्या से विशिष्ट जन कैसे प्रेम कर सकते हैं?

दुव्वियड्ढि ··· (१ य चुंबि) य जड अंडहिं।
नयणिहिं अकयत्थहिं जे रंडहिं॥
नीलुप्पल सुमाले···(हिं गालेहिं)।
ते विसूर वन्निज्जहिं घालेहिं॥७३॥

जो दुर्विदग्धा—स्वच्छन्दी नट-विट और भाँडों द्वारा चुम्बित व अकृतार्थ नयनों को लड़ाती रहती है, उन उच्छिष्ट वेश्याओं के नीलोत्पल से नेत्र और सुकुमार कपोल अज्ञानियों द्वारा ही वर्णित होते हैं।

राउ न जसु मयरद्धय रूविवि।
कुट्ठिवि, सोसइ धणइं निरुविवि॥
सग्ग पवमाण वग्गइ अगाल।
वेम ग ढोयइ दुह सय अग्गल॥७४॥

मकरध्वज (कामदेव) के सदृश रूपवान में भी जिसे प्रेम नहीं, धनवान कुरूप व कुष्टी को भी जो संतुष्ट करती है, स्वर्ग व अपवर्ग-मोक्ष मार्ग की अर्गला सदृश वेश्या सैकड़ों दुखों को देने में अग्रणी है ।

सिरि हिरि कंति धिइ मइ कित्ती।
दंति संति दय सज्जण मत्ती॥
छड्डहिं कंत पणत्थि पसत्तउ।
नावइ ईस वसेण पमत्तउ॥७५॥

श्री, लज्जा, कान्ति, धृति, मति, कीर्ति, दम, शम, सज्जन-मैत्री (स्त्री) को वेश्यासक्त कान्त छोड़ देता है और इर्ष्यावश बेदरकारी से (घर भी) नहीं आता।

सज्जणु उत्तमु कुल संभूयउ।
पर गुण-दूषण घोसणि मूयउ॥
पूइउ पंडिउ गणयहिं रत्तउ।
जइता दासत्तणु धुवु पत्तउ॥७६॥

सज्जन, उत्तमकुल में उत्पन्न, पराये गुण-दोषों की आलोचना, उद्घोषण में मूक, सबसे पूजित पण्डित भी यदि गणिका से आसक्त है तो उं निश्चय ही दासत्व प्राप्त हो गया।

अग्गि जले जिव तणु संतावइ।
कायम्बर जिम्व मणु मोहावइ॥
छुरिया जिम्व जा देहु वियारइ।
सा कुलह किम्व चित्तु वियारइ॥७७॥

अग्नि से जलाने की भाँति शरीर को संतप्त करती है, मदिरा की भाँति मनको मोहित-मूर्च्छित करती है, छुरी की भाँति जो देह विदीर्ण करती है, वह (वेश्या) कुल (-नाश) का चित्त विचार ही कैसे कर सकती है। अथवा वह (वेश्या) कुलनाशिनी चित्त में क्यों विचार करेगी ?

चालइ तव दविणइं सुह भवणइं।
हणइं सुज्झाणइ कय निव्वाणइं॥
नाणु पणुल्लइ उप्पहि घल्लइ।
वेस पराणइ नरइ महल्लइ॥७८॥

सुख की भवन रूप तप सम्पदा से विचलित करती है, निर्वाणकारक सुध्यान का हनन करती है, ज्ञान को दूर हटा कर उन्मार्ग में प्रविष्ट कराती है। वेश्या इस प्रकार नरक महल में पहुँचा देती है।

शिकार

इम जाणेविणु पण रमणि, दूसिय गुण - मणि-माल॥
दूरेण मिल्लहु जिम् लहउ, सुगइ सुक्ख विसाल॥७९॥

ऐसा जान कर गुणगणों की माला को दूषित करने वाली पण-रमणी (वेश्या) को दूर से ही त्याग दो जिससे कि सद्गति और विशाल सुख पा सको।

पारधि वइर परंपर कारणु।
पारधि जीवह करइ वियारणु॥
पारधि जहिं सुद्धिहिं पारद्धी।
दद्धी तिहिं नारय गय लद्धी॥८०॥

शिकार वैर की परम्परा का कारण है, शिकारी जीवों का विदारण करता है। जिस मूर्ख ने शिकार खेलना प्रारम्भ किया—परिणाम में उसने नरक गति की प्राप्ति को दृढ़ कर लिया।

रन्नि वसहिं जि तण चरहिं, फुल्लिण कुवि न हणंति।
तह मय मारणु आयरवि, किह भड्वाउ वहंति ॥८१॥

जो जंगल में रहते हैं, तृणों को चरते हैं और फूलों को भी कभी नष्ट नहीं करते, उन मृगों का वध करके वीर नाम को कैसे धारण करते हैं।

अप्पा पर अवयारयरि, दीसइ फुडु पारद्धि।
विहलइ सयलइं सुचरियइं, पोसइ पावह रिद्धि ॥८२॥

शिकारी अपना और पराया अपकार करने वाला स्पष्ट दिखायी पड़ता है वह समस्त सचरित्रों या निर्दोष (घास) चरनेवालों को व्याकुल करता है और पाप की समृद्धि का पोषण करता है।

विरइय सयलवि जिहिं, खट्टिग · साल - विसाल।
तह भव-वणि जम्मण-मरण, होसइ दह दुह-माल ॥८३॥

जिसने सर्वत्र विशाल कसाईखाना निर्माण किया है, उसे भवरूपी जंगल में जन्म और मरण होगा जो दसों दुखों की माला है।

पूयउ देवय चरउ तवु, वियरउ दाणु पहाणु।
जइ पारद्धिहिं किम्वइ मणु, ता सयलुवि अपमाणु ॥८४॥

देव को पूजो, तप का आचरण करो, प्रधान दान को दो, पर जो शिकार खेलने में मन है तो यह सब अप्रमाण मानो।

आहेडिय जुयारियहँ, थुव सुह दवरि अभाउ।
कइ मन्नहइ भोगवि मुयवि, घल्लहिं दुहि निउकाउ॥८५॥

शिकारी और जुआरी दोनों को थोड़े सुख पर अभाव अधिक होता है। निश्चय ही वे (सुख) भोग कर मरने पर अपनी काया को दुख में डालते हैं।

अवयारि वि जे उवयरहिं, ते नर धर छंकार।
मज्जुत्थह जे असु हरहिं, ते धुउ धरणिहिं भा(भार)रु॥८६॥

अपकारी के प्रति जो उपकार करते हैं वे मनुष्य पृथ्वी के अलंकार है। जो मृग-यूथ के प्राण हरते हैं, वे निश्चय ही पृथ्वी के भार हैं।

जे पंचिंदिय वहु करहिं, ते निग्घिण चंडाल।
[?] एक्कह वि न इंदियह, भवि भवि लहइ ति आल॥८७॥

जो पंचेन्द्रिय जीवों का वध करते हैं वे निर्दयी चाण्डाल हैं। वे एक भी इन्द्रिय का सुख नहीं (पाते) और भव-भव में वे कलंकित होते हैं।

जइ अप्पइं सव्वइं दुहइं, तुहु समुदियइ दि दिक्खु।
वावारंतर परिहरिवि, ता आहेडउ सिक्खु॥८८॥

यदि अपने को सम्पूर्ण प्रकार से सब दुखों से दुखी देखना चाहते हो तो दूसरे कामों को छोड़ कर शिकार करना सीखो।

सच्चरित्र महात्मा

धन्न ति वन्नउं धर वलय, तिहुयण जण-नय-पाय।
जइ सव्वहँ जीवहँ वहहु, विरया मण वय काय ''''

उन्हें भूमंडल में धन्य कहता हूँ और तीन भुवन के लोक उनके चरणों में नत हैं जो मन वचन और काया द्वारा जीव-वध (हिंसा) से सर्वथा निरत हैं।

सच्चं मिउ हिउ धम्मु पर, आलोचिउ जि थयंति।
लहु दुह सुहासहिं पूरियउ, ते भव-वासु थयंति ॥६०॥

सत्य, हित, मित और धर्म पर आलोचित जो चलते हैं, वे अल्प दुःख और अधिक सुखपूर्ण भव वास बिताते हैं।

जह मणि कंचण लढुवल, समभावह सुपवित्तु।
वि (? चि)त्तु विरत्तउ चोरियहु,तह वन्दउ सुचरित्तु॥६१॥

जो मणि-कंचन और ढेले-पत्थर के प्रति समभाव वाले अति पवित्र हैं और जिनका चित्त चोरी से विरक्त है, उन सच्चरित पुरुष की वन्दना करो।

मेहुण सेवणि जाहँ मणु, सव्व पयारि निवित्तु।
सचराचर इहु जगवलउ, तहिं निम्मिउ सुपवित्तु ॥६२।

मैथुन के सेवन में जिनका मन सब प्रकार से निवृत्त हो गया है, उनने इस सचराचर प्राणियों वाले जगत को अतीव पवित्र बना दिया है।

धम्मोवगरण मेत्त धण, जे परिगहु न करिंति।
पंडिय जण आणंदयर, ते गुण रयण धरिंति ॥६३॥

धर्मोपकरण मात्र धन को रखने वाले जो परिग्रह को नहीं रखते वे पंडित जनों को आनन्द करने वाले गुण-रत्नों को धारण करते हैं।

ता राईहिं अब्भव हरइ, जो चउविहु आहारु।
नरसिरि सुरसिरि सिद्धसिरि, (? सुल)हइं सु पर आहारु ६४।

जो आजन्म रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हैं उन्हें नरश्री सुरश्री और सिद्धिश्री—मोक्ष सुलभ है और वे स्व-पर के आधार स्वरूप हैं।

सुश्रावक

जे चिइवंदणि वंदणइं, पडकमणइ अणुरत्त।
ते निय कुल सरवर कमल, सुस्सावय सुपुत्त ॥६५॥

जो चैत्यवन्दन में, वांदणा में और प्रतिक्रमण में तत्पर हैं, वे सुश्रावक सुपुत्र और अपने कुलरूपी सरोवर के कमल हैं।

जे जिण-पूयणि मुणि-नमणि, निच्चु पयत्तु करेंति।
ते कल्लाण निहाण फुडु, लहु पव्वज्ज धरेंति ॥६६॥

जो जिन पूजा में, साधुओं को वन्दन करने में नित्य प्रयत्न करते हैं और शीघ्र प्रव्रज्या धारण करते हैं वे स्पष्ट कल्याण के निधान हैं।

जे विज्जंतइं धणि दविणि, विग्रहिं पत्ति न दिंतु।
दीणइ दुहियइ दुत्थिय(इ), तह कहिं भवि सम्मानु ॥६७॥

जो बहुत से द्रव्य की विद्यमानता में भी पात्र को दान नहीं देते, दीन, दुखी और दुर्दशाग्रस्तों को दान नहीं देते, उनका संसार में कहाँ सम्मान होगा?

निम्मलु सीलु न पालियउ, दमिय न इन्द्रिय तुरंग।
मण मयगलु नो वसिय कयउ, किंह कुणिय संगु ॥६८॥

निर्मल शील का पालन नहीं किया, इन्द्रिय रूपी घोड़ों का दमन नहीं किया और मनरूपी मतवाले हाथी को काबू में नहीं किया वे (अनासक्त-विरक्त) कैसे कहे जायें?

सत्ति न गूहइ गिस करइ, परइ न गवु समुद्दु।
दुग्गइ खड्डहि उट्टियहि, सणु पुष्पु अप्पा छुट्टु ॥९९॥
शक्ति को नहीं छिपाता, बहाना करता है, तप के करने में सम्यक् प्रयत्न नहीं करता स्पष्ट ही उसने दुर्गति के खड्डे में अपनी आत्मा और शरीर को फेंक दिया।

जिण संसिउ निच्चुवि करहि, गम धम्मिय वच्छल्लु।
सासण सार सुदार मणु, जिम्व होयहि नीसल्लु ॥१००॥
'जिन' का कहा हुआ स्वधर्मीवात्सल्य सदैव करो एवं उदार चित्त से शासन की सार सम्भाल करो, जिससे कि शल्य रहित हो जाओ।

जण जिण पवयण मइलियइ, जं नियं कुलह विरद्धु।
तं मा काहिसि जिम होयहि, कम्म विमुक्कु विसुद्धा॥१०१॥
जिन-प्रवचन को मलिन करने वाले और अपने कुल के विरुद्ध जो (कार्य) हो उसे मत करो। ताकि कर्म विगर्जन कर विशुद्ध हो जाओगे।

जह मुत्तिवि मणि तुल्ल गुण, मसमण लिंगिय मुंड।
तह फुडु जड चूडामणि, हंस न कथूरं(? कयइ) मुरण्ड॥१०२
जैसे वेषधारी व मुण्डित मुश्रमण को मणि तुल्य गुण की उपमा दी जाती है, लेकिन चूड़ामणि तो स्पष्ट ही जड़ पदार्थ है हँस को कभी बगला (!) नहीं कहा जाता।

जे पावेविणु जिण वयण, उसुत्तइं भासंति।
ते पाविवि चिंतारयणु, (खंडो) खंडि करंति ॥१०३॥
जो जिन के वचन को पा कर भी सूत्र विरुद्ध भाषण करते हैं वे चिन्तामणि को पाकर भी उसे खण्ड-खण्ड कर डालते हैं।

जो चिंतामणि पत्थरह, सुरतरु विस तरुयाण।
सो अन्तरु बुह अन्नरहि, सुममण लिंग-धराण ॥१०४॥

जो चिन्तामणि और पत्थर में, कल्पवृक्ष और विषवृक्ष में, पण्डित और मूर्ख में अन्तर है वही अन्तर सुमन और वेषधारी में है।

जो अवगण्णिवि मुणि रयण, लिंग सुभत्ति करेइ।
सो छंडेविणु अमय रसु, हालाहलु पवेइ ॥१०५॥

जो मुनि-रत्न की अवगणना करके लिंग में (बाह्य वेश में) भक्ति करता है वह अमृत-रस को त्याग कर हालाहल को चखता है।

कोह दवानल उल्हवहु, समय मेय पूरेण।
भय संतावु...(प) मणु जिण्ह, सुमुमु सूरहु दूरेण ॥१०६॥

सिद्धान्त रूपी मेघ जल के प्रवाह से क्रोध रूपी दावानल को बुझा दो और संसार के सन्ताप को उपशान्त कर दो जैसे सूर्य दूर से ही अन्धकार नाश कर देता है।

माण महीहरि मा चडहु, अवगुण भिल्लिहि विभिग।
जइ कुसलिण रक्खिउ महहु, मवियहु रयणिहि तिन्नि ॥१०७॥

हे भव्य! यदि ज्ञान दर्शन-चारित्र रूप तीन रत्नों की कुशलता पूर्वक रक्षा करना चाहते हो तो अभिमान रूपी पहाड़ पर मत चढ़ो जो अवगुण रूपी भीलों-लुटेरों से आकीर्ण है।

माय भुयंगी गरल भरु, जहि विपलोयइ निच्चु।
तहि गुण फम्मइ मुय अमउ, दूसिज्जइ निभिच्चु ॥१०८॥

मायारूपी सांपिन जहाँ सदा जहर का समूह बिखेरती रहती है, वहाँ भारी कर्मियों द्वारा श्रुतरूपी अमृत निश्चय ही दूषित होता है।

गुरु पवहणि आरुहिवि लहु, लोह-समुद तरेहि।
सो पायालि हुहावहइ, अप्पाणउं पाडेहि ॥१०६॥

वह (लोभ) आत्मा को गिराकर पाताल में स्थापित कर देगा अतः गुरु रूप जहाज पर चढ़ कर तुरन्त लोभ रूपी समुद्र को पार करो।

पाव वयंस पसंग रसु, मं कइयह वि करेसु।
धम्मु चरंतहु जिम्व सयलु, छिज्जइ कम्म किलेसु ॥११०॥

पापी सखा का भी प्रसंग कभी मत करो, जिससे धर्म का आचरण करते हुए समस्त कर्म-क्लेश नष्ट हो जायँ।

तिविहु जु चेइउ वन्नियउं, भगवंतिहिं सिद्धंति।
निस्सु अनिस्सु अणाययणु, तं सद्दहहिं अ · (ऍच्चं)ति ॥१११॥

भगवन्त ने शास्त्रों में तीन प्रकार के चैत्य बतलाये हैं—निश्राकृत, अनिश्राकृत और अनायतन। उनकी लोग पूजा एवं श्रद्धा करते हैं।

विहि चेईहरि पइ-दियहु, गमणच्चणहिं करेहु।
अन्नइ दुन्निवि परिहरहु, मा संसारि पडेहु ॥११२॥

विधि चैत्यालय में प्रतिदिन जा कर पूजा-अर्चा करो। अन्य दोनों का परित्याग कर दो, संसार सागर में मत पड़ो।

निसणहु निच्चु वि जिण समउ, सेवहु सुहगुरु पाय।
सव्व विरइ मणु संठवहु, जेण न हुँति अवाय ॥११३॥

सदैव जिनोक्त सिद्धान्त को सुनो सद्गुरु के चरणों की सेवा करो, सर्वविरति चारित्र में मन को स्थापित करो, जिससे कि अनिष्ट न हो।

तित्थयराण परायणह, उवसंतह सुजयाण।
सिवसुह लालस माणसहं, मदुदुहवउ भवियाण ॥११४॥

तीर्थङ्करों में परायण, उपशम वाले, विजय शील और मोक्ष सुखाभिलाषी भव्य जनों का कल्याण हो।

भव विरत्तणु भाविरह, तव संजम निरयह।
वेच्चइ जाइ मणुस्स भवु, ते निहि सव्व सुहहं ॥११५॥

संसार के प्रति विरक्ति पाने वाले तप और संयम में निरत हैं उनका मनुष्य भव सब सुखों के निधान (मोक्ष) का मार्ग है।

धम्मुवएसं पयं आराहेहिंति जे महासत्ता।
चारित्त वं(पुं)दन धवलिय तिजया जाहिंति ते सिद्धिं॥११६॥

महान् सत्वशील जो पुरुष धर्मोपदेश पद की आराधना करते हैं वे चारित्ररूपी चन्दन से तीनों लोकों को उज्वल करनेवाले, सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

॥ इति बालावबोध प्रकरणं समाप्तं ॥



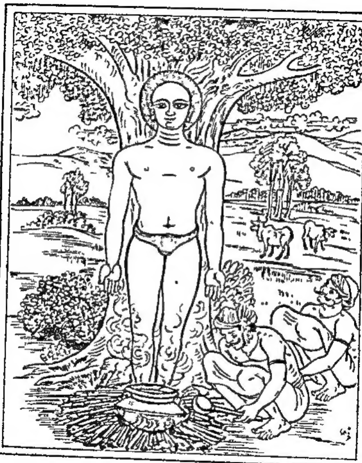
ॐ अर्हं पद धुन

तर्ज :—ऋषभदयाला जग प्रतिपाला

ॐ अर्हं ॐ अर्हं मेरे, मनमें हरदम रहा करे।
ॐ अर्हं ॐ अर्हं पावन, रस रसना से बहा करे॥
ॐ अर्हं मैं ॐ अर्हं तू, ॐ अर्हं यह आतम है।
ॐ अर्हं तन्मय शिव सुन्दर, ॐ अर्हं परमातम हैं॥
ॐ अर्हं गुण कवीन्द्र गाते, ॐ अर्हं पदवी पाते।
ॐ अर्हं ॐ अर्हं जय जय, ॐ अर्हं है मन भाते॥



ग्वाले का उपसर्ग



श्री महेन्द्रकुमार सिंघी के सौजन्य से